उपनिषद--घोषणापत्र

ईशावास्योपनिषद्

वेंकटराव रायसम्

लेखक एवम् प्रकाशक :
वेंकट राव रायसम्
गांधी दुनिया प्रकाशन,
९ जनपथ, नई दिल्ली-१

मूल्य रु० **10-00**

मुद्रक : पाइनियर फाईन आर्ट प्रेस अजमेरी गेट दिल्ली-६

प्रोफेसर रामशरण

आचार्य बीरबल सिंह

पूज्यपाद आचार्यद्वय के कर ममलों में,
जिनकी अपार कृपा मुझ पर
श्री काशी विद्यापीठ के विद्यार्थी जीवन से लेकर
अब तक ज्यौं की त्यौं बनी रही,

सादर समर्पण

चरण सेवक
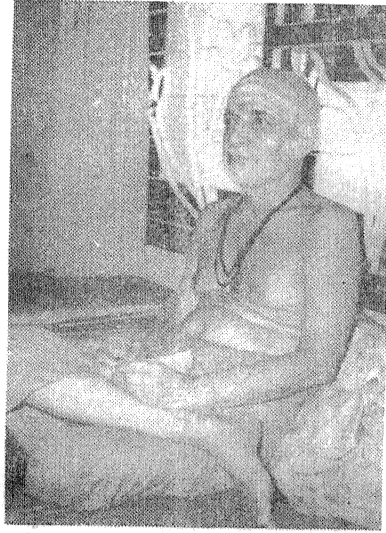
अनंत श्रीविभूषित धर्मसम्राट
स्वामी करपात्री जी महाराज हरिहरानन्द सरस्वती

श्री वेंकट रावजी बड़े ही
विचारशील राष्ट्रसेवापरायण
कर्मठ व्यक्ति हैं उनकी नि-
ष्ठा की प्रतीक प्रस्तुत पुस्तक
है

करपात्र स्वामी

श्री वेंकट रावजी बड़े ही विचारशील राष्ट्रसेवा परायण
कर्मठ व्यक्ति हैं। उनकी निष्ठा की प्रतीक प्रस्तुत पुस्तक है।
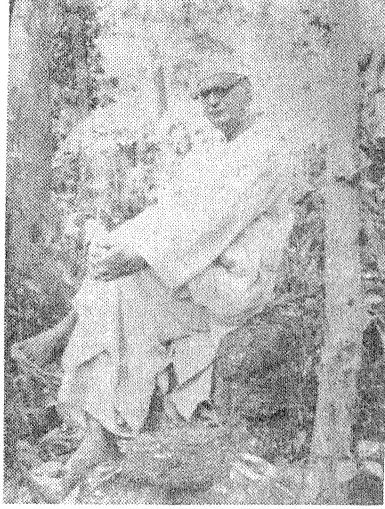
योगीराज श्री रामनाथ महाराज,
अध्यक्ष श्री शिवनाथ योगाश्रम

देवासुर संग्राममय संसार में प्रतिक्षण युद्ध चल रहा है, अन्दर भी, बाहर भी। दोनों युद्धों से छुटकारा दिलाने के लिए महामहिम ऋषियों, मुनियों, अवतारों, पैग़म्बरों ने अनंत रास्ते ढूंढ निकाले। उन में उपनिषद-ज्ञान मूर्धन्य है, उसमें भी ईशावास्योपनिषद सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है।

श्री वेंकट राव रायसम ने भारतीय देवासुर संग्राम में स्वयं भाग लिया और एक वीर योद्धा की भाँति अनेक भयानक कष्ट सहे। यह उनका बाह्य संग्राम था। परन्तु यह योद्धा आंतरिक असुरों से भी उसी प्रकार लड़ने की कला में प्रवीण निकले। इनकी चिन्तनशक्ति अगाध है। अहिंदीभाषी होते हुए भी हिन्दीमाता की सेवा में जीवन लगा दिया और उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण किया। इनकी लिखी भर्तृहरि-शतकत्रय की व्याख्या अलौकिक और रम्य है। उसे जिन्होंने पढ़ा वे इनके मौलिक चिन्तन से परिचित हैं। प्रस्तुत ईसावास्योपनिषद की व्याख्या तो और भी सर्वजन सुलभ बनाने में चमत्कार कर दिखाया है।

इन का जीवन लम्बा हो और यह भारतीय विज्ञान धारा को सर्वजनहित के लिए प्रकाश में ला सकें, यही ईश से प्रार्थना।

रामनाथ

श्री ख्वाजा पीर ज़ामिन निज़ामी सय्यद बुखारी,
सज्जादानशीन दरगाह हज़रत ख्वाजा निज़ामुद्दीन औलिया,
उर्स के अवसर पर पीर साहब
राष्ट्रपति श्री फखरुद्दीन अली अहमद को
अमामा पहना रहे हैं।

मैंने "ईशावास्योपनिषद" पढ़वाकर सुनी। इस किताब में जगह-जगह वहदानियत का जिक्र आया है, खिदमते खल्क और नेक काम करने की तलकीन की गयी है। श्री वेंकट राव रायसम की यह अच्छी कोशिश है। अगर तमाम फिरकों की मजहबी किताबों के तरजुमे रायजुलवक्त आमफ़हम जबानों में हो जायें तो इस तरह मुख्तलिफ मज़ाहिब के लोगों को एक दूसरे के मज़हब को समझने का मौका मिलेगा और नफरत की दीवारें काफी हद तक दूर हो सकेंगी और हिन्दुस्तान में कौमी इकजहती को फ़रोग मिलेगा।

فقط دعاگو

श्री बाबा गुरुवचन सिंहजी महाराज निरंकारी

उपनिषदों पर अनेकों ग्रंथ लिखे जा चुके हैं। परन्तु फिर भी इनका सही रहस्य जानने में साधारण मनुष्य असमर्थ ही रहा है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि लिखने वाले केवल कोरे भाषा के ज्ञाता ही होते हैं।

वेंकट राव रायसम द्वारा लिखा गया यह छोटा सा ग्रंथ हर प्रकार से पूर्ण है। भाषा, भाव दोनों ही जनसाधारण की पहुंच में है। ऐसे ग्रन्थों की अभी संसार को काफ़ी जरूरत है, क्योंकि इसमें लोक, परलोक को सुखी करने का बहुत ही सरल विधान दिया गया है। आशा है, इसे जनता और विद्वान दोनों ही समान सम्मान देंगे।

आज्ञानुसार

GUNDE RAO HARKARE

Retd. Sessions Judge

Vachaspathi (Navadweep), Shiromani (Madras)
Vidya Bhushan (Belgoan), Vidya Bhasker (Rishikash),
Fellow, Andhra Pradesh Sahitya Academy,
RECEPIENT OF PRESIDENTIAL AWARD
FOR EMINENT SANSKRIT SCHOLARS

वैदिक वाङ्मय में उपनिषदों का स्थान सर्वोच्य है। बड़े-बड़े जगद्गुरुओं ने जिन उपनिषदों पर विशद भाष्य लिखे हैं, उन में ईशावास्योपनिषद सब से महत्त्वपूर्ण है। पारमार्थिक धृष्टि से ईश्वर और जीव के स्वरूप क्या हैं और उनका परस्पर सम्बन्ध क्या है, इसका मर्म जानकर शाश्वत आनन्द को प्राप्त होना उपनिषद परिशीलन का मुख्य प्रयोजना है।

ऐसे गहन तत्वज्ञानबोधक उपनिषद का तात्पर्य श्री वेंकट राव रायसम ने बड़ी कुशलता से भारत के प्रजा सत्तात्मक राज्य, सामाजिक व्यवस्था, वैयक्तिक अधिकार, कर्तव्य, इत्यादि विषयों का प्रतिपादक बताया है। श्रीमत् भगवद्गीता पर कर्मयोग नामक व्याख्या लिखकर लोकमान्य श्री बालगंगाधर तिलक ने भारतीयों को जगाया और स्वकर्तव्य की ओर प्रेरित किया। वही काम अब श्री वेंकट राव रायसम् ने ईशावास्योपनिषद की यह व्याख्या लिख कर किया है।

रायसम् महाशय ने इससे पहले भर्तृहरि के शतकत्रय पर हिंदी में सविस्तर व्याख्या लिखी है। अब तक इन शतकों पर अनेक व्याख्याएं उपलब्ध हैं। परन्तु रायसम्‌जी ने अपनी व्याख्या में स्वानुभव से ऐसे बिषय प्रस्तुत किये हैं कि उसे भाष्य साहित्य का कीर्तिमान ही मानना चाहिए।

गुंडेराव हरकारे

श्री जैनेन्द्र कुमार

वेंकट रावजी के "उपनिषद-घोषणापत्र" को यत्र तत्र मैंने देखा है। ग्रंथकार से साक्षात् चर्चा भी हुई है। वह केवल तार्किक भाष्य ही नहीं है। उसे सामान्य मनुष्य और उनके दैनदिन जीवन से जोड़ने की मननपूर्वक चेष्टा की गयी है। उपनिषद गुह्यज्ञान के संवाहक माने जाते हैं और हैं भी। आवश्यकता है कि ज्ञान को जीवन से संयुक्त किया जाय, तभी धर्म का वृत्त पूरा होता है। वेंकट रावजी को इस में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है और पुस्तक लोकोपयोग्य बन सकी है।

जैनेन्द्र 3-3-'78

डा० सरोजिनी महिषी,
राज्य मंत्री, विधि, न्याय एवम् कम्पनी कार्य,
भारत सरकार

शंकर, माध्व आदि महान विभूतियों से लेकर आचार्य विनोबा भावे तक के भाष्य जहां उपलब्ध हों, वहां श्री वेंकट राव रायसम का "उपनिषद-घोषणा-पत्र" सचमुच एक साहसपूर्ण प्रयास है। श्री रायसम अपने को विद्वान नहीं मानते। परन्तु स्वानुभव पर विद्वत्ता का पुट देकर ब्रह्मविद्या के स्रोत उपनिषदों को सामान्य सर्व-सुलभ भाषा में प्रस्तुत करके रायसम ने उन महान आदर्शों को आधुनिक युग में आचरणयोग्य सिद्ध करने की सफल चेष्टा की है। पुस्तक विद्यार्थियों, विद्वानों और विचारकों के लिए समान रूप से अध्ययन एवम् मनन योग्य है। और सम्भवतः आज के संघर्षमय युग में सहकारमय समाज के लिए उपयोगी भी।

सरोजिनी महिषी

युवराज डा० कर्णसिंह,
स्वास्थ्य एवं परिवार नियोजन मंत्री,
भारत सरकार

वेदान्त वाङ्मय में ईशावास्योपनिषद का विशेष स्थान है। इसके १८ मन्त्रों में उपनिषदीय ज्ञान का सार संचित है—सर्वव्यापक परब्रह्म का निरूपण और मानव को मोहरहित सम्पूर्ण जीवन यापन का आवाहन। ईशावास्योपनिषद की अनेक टीकायें की गई हैं। मैंने श्री वेंकट राव रायसम की टिप्पणियों को बड़ी रुचि से पढ़ा है। टिप्पणी विचारोत्पादक है, अधिकतर व्यवहारिकता पर आधारित।

बाबू जगजीवन राम,
सिंचाई व कृषि मंत्री,
भारत सरकार

श्री वेंकट राव रायसम द्वारा लिखा हुआ "ईशावास्य उपनिषद" का भाष्य देखा। भाष्य विशद है, बोधगम्य है। विश्लेषण वैज्ञानिक है और बुद्धि की कसौटी पर खरा उतरने वाला। भाष्य से यह प्रत्यक्ष है कि इस उपनिषद में प्रतिपादित विषय वैज्ञानिक समाजवाद या साम्यवाद से कहीं ऊंचा और मानववाद के आदर्श पर आधारित है। उपनिषदों के ऐसे भाष्य आज की युवा पीढ़ी को भी आकृष्ट करके अधिक से अधिक प्रगतिशील समतावादी समाज स्थापना के लिए प्रयत्नशील होने के लिए उद्बोधन कर सकेंगे।
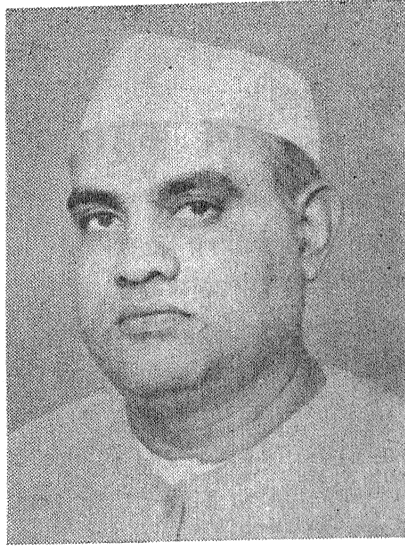
श्री श्याम सुन्दर उपाध्याय
जिन्हें
चालीस वर्ष पूर्व उत्तर प्रदेश प्रतापगढ़ जिले के
अंतर्गत सुरसरि गंगा के परिसर
ग्राम पनगांव-लाला बजार में
बच्चों के सरदार बनकर
तिरंगा झंडा उड़ाये
उत्साहपूर्ण जय-जयकर भरते देखा था
अब चालीस वर्ष बाद
राजधानी दिल्ली में
वही सहज सुशील, स्वच्छंद, स्वाभिमानी, स्वावलम्बी
उपाध्याय जी
जिस किसी काम में लग गये
हर क्षेत्र में आला रहे,
बिना पूर्व सूचना के मेरे कहने भर पर
पुस्तक के कागज और मुद्रण का
चेक काट दिया ।

शुभाभिलाषी
वेंकट राव रायसम

मैंने कहा

"उपनिषद-घोषणापत्र" है "ईशावास्योपनिषद"। "कम्युनिस्ट-घोषणापत्र" को लगभग एक सौ वर्ष पूर्व एक मेधावी विद्वान और एक मनस्वी धनवान कार्लमार्क्स और एंजिल ने मिलकर तैयार किया था।

न जाने कै हजार वर्ष पूर्व, न जाने कै ऋषि, मुनि, विद्वान, विचारवान, धनवान और कर्मवानों ने विशद वाद-विवाद के बाद समस्त मानवजाति की समुन्नति और समाज की सुव्यवस्था के हित में इस संक्षिप्त पर समग्र "ईशावास्योनिषद" का निर्माण किया। इस उपनिषद में जीवन-विधान को ब्रह्म ज्ञान का साधन माना गया है। अतएव यह वास्तव में "उपनिषद-घोषणापत्र" है।

वेद हिंदू धर्म के मूल ग्रंथ हैं और वेदविद्या का सार वेदान्त। इसी को उपनिषद की संज्ञा दी गयी है। अनुसंधानों के आधार पर उपनिषदों की संख्या ढ़ाई सौ तक मानी जाती है। अपनी-अपनी अभिरुचि और श्रद्धा के अनुसार कोई किसी उपनिषद को अधिक महत्व देता है, कोई किसी को। किन्तु ईशावास्योपनिषद को सभी सर्वोच्च मानते हैं।

संसार भर के साहित्य को छान डालें तो ईशावास्योपनिषद से छोटा ग्रंथ नहीं मिलेगा। इस छोटी सी पोथी में किसी ऐसे महत्वपूर्ण पक्ष को अछूता नहीं छोड़ा गया जिसका किसी अन्य दार्शनिक ग्रन्थ में उल्लेख हो। ईशावास्य में सचमुच सागर को गागर में भर दिया गया है। व्यक्ति की समुन्नति और समाज की सुव्यवस्था का जो वैज्ञानिक ढांचा इसमें प्रस्तुत किया गया है, बस, "न भूतो न भविष्यति।"

ईशावास्योपनिषद में मात्र अठारह छोटे-छोटे मंत्र हैं। इतने छोटे कि इस पुस्तक की एक-एक पांत में एक-एक मंत्र समा जायेगा। ऐसी नन्हन्नी-मुन्नी पोथी के पठन-पाठन में किसे आनाकानी हो सकती है? परन्तु आज भारत में संस्कृत के जानकारों की संख्या दाल में नमक बराबर भी तो नहीं है। फिर भी बीस करोड़ भारतीय ऐसे हैं जो किसी न किसी भारतीय भाषा को भली-भांति जानते हैं। इनके लिए ईशावास्योपनिषद पढ़-समझ लेना कठिन-साध्य नहीं है।

यह महाग्रंथ पौने तीन सौ शब्दों पर सम्मिलित है। जिस पर मात्र डेढ़ सौ

शब्द ही बार-बार आकर तीन पौने तीन सौ शब्द हो जाते हैं। इन डेढ़ सौ संस्कृत शब्दों में भी आधे से बढ़ कर ऐसे शब्द हैं जो प्रान्तीय भाषाओं के अभिन्न अंग बन चुके हैं। सौ-पचास शब्दों को समझ मात्र लेने से वेदान्त का सार समझ जायें, इससे सुगम और क्या हो सकता है ! हमारे पूर्वजों ने उपनिषद की भाषा इतनी सरल इसलिए रखी है कि कोई मनुष्य इस महत्वपूर्ण विद्या से वंचित न रहे। सम्भवतः अतीत में यह जन-जन की भाषा रही है। शब्दों की सरलता के साथ विषय की सुगमता इसकी विशेषता है।

अनगिनत वर्षों से वैदिक धर्म का प्रचलन है। जाने कैसे-कैसे दिग्गज धर्माधिकारियों का इस में योगदान रहा है। देश-काल के अन्तर से जनगण की धारणा एवम् आचरण में अन्तर आता ही रहा होगा। छोटे-मोटे वाद-विवाद चलते ही रहे होंगे। वैदिक जगत के प्रतिभावान विद्वानों और ज्ञानी महात्माओं की ओर से, लगता है, समय-समय पर छोटी-बड़ी गोष्ठियों का आयोजन होता रहा। आमने-सामने तर्क-वितर्क होता रहा। उपनिषद के माने "पास-पास बैठना" भी तो है। ऐसी कितनी ही गोष्ठियों का आयोजन हुआ होगा और इसी से उपनिषदों की इतनी अधिक संख्या। आयोजकों के नाम, चर्चा के विषय अथवा शब्द विशेष के आधार पर उपनिषदों के नामकरण हुए। शब्द "ईश" से आरम्भ होने के कारण इस उपनिषद का नाम ईशावास्योपनिषद पड़ा। यह तो रहा एक पक्ष।

दूसरी ओर यह मान्यता भी चली आयी है कि वेद "अपौरुषेय" हैं, अर्थात् वेदविद्या मानव की विचार-मंथन का परिणाम नहीं, वरन् वे साक्षात् परब्रह्म परमात्मा के मुखःकमल से आविभूत हुए हैं। परन्तु इस धारणा का खण्डन स्वयं इस सर्वसम्मत ईशावस्योपनिषद् से हो जाता है—"इति शुश्रुम धीणां ये नस्तद्विचचक्षिरे"—कि धीमान विद्वानों को निर्भीकता से शास्त्रार्थ में इस विषय को सिद्ध करते हुए हमने स्वयं सुना है। अतः ईशावास्योपनिषद गोष्ठी का सर्वसम्मत घोषणापत्र है।

घोषणापत्र का विषय

उपनिषद घोषणापत्र में मुख्यतया जिस विषय की घोषणा है वह है मानव और उसके कर्तव्य और अधिकार। साधारणतया कहा जाता है कि कर्तव्यपालन से व्यक्ति अधिकारों का हकदार बनता है। परन्तु ईशावास्य की घोषणा इसके विपरीत है। प्रथम मंत्र के प्रथम चरण में ही कहा गया है कि संसार में जो कुछ भी है उसमें ईश्वर बसा हुआ है और अगले ही चरण में मानव को उद्देश्य करके कहा गया है कि वह पेट भर खाने का अधिकारी है। दो बातें स्पष्ट

हैं। एक, मानव मात्र को (सब चराचर को भी) ईश्वर-सा मानो, अर्थात् उतनी मान, मर्यादा करो और दूसरे, उसके जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध करो। अर्थात् मानव सम्मान-समानता और आर्थिक समानता का अधिकारी है। विना सम्मान के खाने की बात करना मानवता का अपमान करना है। दूसरे मंत्र में मानव के लिए सदा कार्यरत रहने का आदेश है। यह उसक कर्तव्य है। पहले खाना, बाद काम, अर्थात् पहले अधिकार बाद में कर्तव्य। काम के लायक रहे या बने तभी वह काम करे। बिना काम किये खाने की सामग्री कैसे पैदा होगी ? खाने और काम में चोली-दामन का साथ है। मुर्गी पहले कि अंडा पहले, इस बात को ईश्वर पर छोड़िए।

मानव चंगा रहे तो काम ढंग का बने। काम में ढंग लाने के लिए ही आगे चलकर मंत्र ९-१०-११ में मानव का दूसरा अधिकार माना गया है विद्या-प्रप्ति, शिक्षा-दीक्षा। जिस प्रकार भोजन में छाजन और रहन-सहन सम्मिलित है उसी प्रकार शिक्षा में प्रौढ़शिक्षा, बालशिक्षा, लिखना-पढ़ना, हुनर-कारीगरी सब कुछ शामिल है। यहां भी कार्य कुशलता का अधिकार पहले नम्बर पर है। मानव को निपुण बनने का अवसर न देकर निकम्मा बनाये रखने का किसी समाज या सरकार को अधिकार नहीं है। मानव को निपुण न बनावें तो समाज और सरकार दोषी और तन-मन से उत्पादन न बढ़ावे तो व्यक्ति दोषी।

व्यक्ति उत्पादन करेगा, परन्तु उस उत्पादन का स्वामी समाज है, व्यक्ति नहीं। व्यक्ति उतना ही पाने का अधिकारी है जितने में उसका भली-भांति निर्वाह हो जाय। उत्पादन में ज्ञान विज्ञान, धन सत्ता भी सम्मिलित हैं। इन पर भी सर्वोच्च स्वामित्व समाज का है, व्यक्ति का नहीं।

इन सब बातों का निर्णय कौन करे, व्यक्ति अथवा समाज ? इसका उत्तर मंत्र ६, ७ में उपलब्ध है। समाज में सभी व्यक्ति शामिल हैं। गुट, दल का सवाल नहीं है। समर्थक और विरोधी का प्रश्न नहीं है। न किसी समर्थन का मोह, न किसी विरोध का शोक। "एकत्वम् अनुपश्यतः" सब को समान जानो और अल्पमत को भुलाकर सर्वसम्मति का सहारा लो।

उपनिषद की व्यवस्था में व्यष्टि रूपेण एवम् समष्टि रूपेण कर्तव्य तथा अधिकारों की ऐसी जकड़बंदी है कि "सहयोग" समाज का मूलमंत्र बन जाता है। यदि कभी संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाय तो वह संघर्ष भी सहयोगमय संघर्ष होगा। संघर्ष का उद्देश्य संहार नहीं, वरन् सम्मानपूर्ण समझौता है। इसका ज्वलंत उदाहरण हमारे सामने महात्मा गांधी का आंदोलन है। राष्ट्रपिता के नेतृत्व में हम भारतीयों को शिक्षा दीक्षा पाने का सौभाग्य प्राप्त

रहा है। कैसे बुद्धू भुलक्कड़ हैं हम भारतवासी कि उधर उपनिषद विद्या का तिरस्कार करके और इधर गांधी-दीक्षा को भुलाकर भीभत्स भुक्कड़ बनकर अन्न और ज्ञान के लिए औरों का मुंह निहार रहे हैं। वह दूर की दुनिया क्या है ? इसी उपनिषद के शब्दों में वे और भी अधिक अन्धकार में घिरे हुए हैं। अन्धे को अन्धा रास्ता क्या दिखावे। अपने भीतर ज्योति जगे तो संसार भर में प्रकाश आप फैले।

अध्यात्मवाद

उपरोक्त भौतिक जकड़बंदी के साथ अध्यात्म का कौन मेल ? उपनिषद में भोतिकवाद एवम् अध्यात्मवाद का सुन्दर समीचीकरण है। उपनिषद जहाँ शरीर और संसार को मानते हैं वहां आत्मा और परमात्मा को भी मानते हैं। मानव को सामाजिक बंधन के साथ आध्यात्मिक स्वतन्त्रता भी प्राप्त है। मंत्र ४, ५, ८, और अन्तिम तीन चार मन्त्रों और मंत्र ९ से मंत्र १४ तक लौकिक विद्या तथा भौतिक सम्पत्ति के साथ, पारलौकिक ज्ञान एवम् परमार्थ साधना की विवेचना में मानव पूर्णतया स्वतंत्र है। परमार्थ की सिद्धि के लिए "विद्या" तथा "सम्भूति" उसकी व्यक्तिगत उपलब्धियां हैं तो "अविद्या" और "असम्भूति" सांसारिक समृद्धि एवम् योग-क्षेम के साधन।

उपनिषद की भाषा में "धर्म" और "कर्म" सामाजिक परिभाषाएं हैं और यह दोनों शब्द प्राय: समानार्थक हैं। व्यक्ति का कर्म समाज के प्रति उसका धर्म है और समाज का कर्म व्यक्ति के प्रति उसका (समाज का) धर्म। धर्म भावनात्मक है और कर्म क्रियात्मक। ईशावास्य की भावना के साथ प्रेय के द्वार श्रेय के प्रांगण में जा खुलते हैं।

भिन्न-भिन्न राष्ट्रों, भिन्न-भिन्न भाषाओं, भिन्न-भिन्न मजहब सम्प्रदायों और भिन्न-भिन्न संस्कृतियों की उपस्थिति उपनिषद-व्यवस्था में बाधक नहीं हैं। क्या ही अच्छा हो कि धर्मनिरपेक्ष भारत उपनिषद-घोषणापत्र को अपनावे और अपनी जनशक्ति को ईश्वरीय शक्ति जानकर सभी राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा करे। स्यात् भारत अपनी प्राचीन गरिमा को फिर से प्राप्त हो और संसार को नई रोशनी मिले।

क्षमा-याचना

मैं कोई विद्वान नहीं। किसी भाषा का जानकार भी नहीं। यदा-कदा लिख लेता हूँ, परन्तु अपने को लेखक नहीं मानता। जब कभी कोई नई बात सूझी ज्यों-त्यों करके लिख डाला। और तभी लिखता हूँ जब उसे मैं अपना कर्तव्य मानता हूं और लिख मारता हूँ सभी प्रकार के भय आशाओं से मुक्त

होकर। चालीस-बयालीस साल पहले उपनिषद देख डाले थे प्रतापगढ़ जेल में। तीस वर्ष पूर्व भर्तृहरि पर लिखा उन्नाव जेल में। दोनों ही उत्तर प्रदेश के जनपद हैं और मैं दक्षिण भारत में आँध्र प्रदेश के अन्तर्गत तेलंगाने का। भर्तृहरि के बाद उपनिषद पर लिखना चाहता था। वह इच्छा कहीं अब पूरी हुई। वैचारिक दृष्टि से ही नहीं, शब्दार्थ की दृष्टि से भी कहीं-कहीं अन्य भाष्यकारों से मैंने भिन्नार्थ किये हैं। कुछ विद्वानों से चर्चा की तो उन्होंने मुझे गलत नहीं कहा। वैचारिक भिन्नता में औरों से परामर्श करना मैंने उचित नहीं जाना। आजकल दशा यह है कि लोग बेबस हैं या बेकाबू। अतएव जो भी त्रुटिया हों, वह सब मेरी। मुद्रण—अशुद्धियों पर मेरा बस नहीं। भाव समझलें, शब्दों के लिए क्षमा करें, पाठक महानुभावों से यही मेरी विनम्र प्रार्थना है।

आभार

आभार मैं किस-किस का मानूं! सबसे पहले उस जनता-जनार्दन का जिनके बीच काम करते हुए मुझे जन-दृष्टि की आदत पड़ गयी। पुस्तक की समाप्ति पर गुरु-दक्षिणा सूझ पड़ी, तो श्री काशी विद्यापीठ के भूतपूर्व आचार्य-द्वय श्री रामशरण एवम् श्री बीरबल सिंह, जिनकी अपार कृपा मुझ पर विद्यापीठ के मेरे अध्ययन काल से लेकर आज पैंतालीस वर्ष तक ज्यों की त्यों बनी हुई है, उन्हीं के करकमलों में यह कृति समर्पित करके कृतार्थ होने की चेष्टा की। आबड़-ताबड़ पांडुलिपि तैयार करना, कागज और मुद्रण का उधार प्रबंध करना, छपाई पूरी हो जाने पर एक ही बात पर श्री श्याम सुन्दर उपाध्याय का कागज और मुद्रण के बिल चुका डालना, ज्योतिर्मठ जाने पर किसी अपरिचित का मुझे धर्मसम्राट श्री करपात्री महाराज के यहाँ जा छोड़ना और पहली ही भेंट पर उनके हस्तलिखित संक्षिप्त पर सारगर्भित आशीर्वचन पा जाना, यह सब एक कल्पनातीत घटनाचक्र है। त्रिवेणी संगम प्रयागराज परिसर में जिला प्रताप गढ़, जो १९३० से १९४७ तक मेरा रणक्षेत्र रहा स्वतंत्रता संग्राम में, श्री श्री करपात्री महाराज का पार्थिव शरीर उसी प्रतापगढ़ की पृथ्वी पर प्रादुर्भूत हुआ और श्री श्यामसुन्दर उपाध्याय उसी जनपद के निवासी। हम तीन मूर्तियों का इस यमुना तटीय दिल्ली-महानगर में सम्मिलन। मैं ब्रह्मान सही, श्री उपाध्याय ने लक्ष्मीपति बन कर इस कृति का व्यय वहन किया और श्री करपात्री महाराज ने कैलासपति महादेव बन कर वरदहस्त रखा। बहुसंख्यक जाति में जन्म लेने के कारण अल्पसंख्यकों के साथ सहानुभूति रखना मेरा धर्म रहा। सो, निजामुद्दीन औलिया दरगाह शरीफ के सज्जादानशीन पीर ख्वाजा जामिन निजामी सय्यद बुखारी की दुआएं हासिल कीं। महाराज

भर्तृहरि की कृपा से इस भक्त की भेंट योगी राज रामनाथ महाराज से हुई, जिन्होंने अपने सहज स्वभाव "आत्मवत् सर्वभूतानि" के अनुसार मुझे विशेष रूप से अनुग्रहीत किया। लब्धप्रतिष्ठ साहित्यक, समालोचक, दार्शनिक, सहृदय, स्वनाम धन्य श्री जैनेन्द्र कुमार के स्नेहभाव से मैं अत्यंत स्निग्ध हुआ। अपनी अमूल्य पैतृक-सम्पत्ति रूपी सर्वधर्म-समभावना ने मुझे खिचे-खिचे निरंकारी कालोनी दिल्ली के बाबा गुरुवचन सिंह महाराज की सेवा में जा पेश किया और मैं निरंकारी महाप्रसाद से प्रसादित हुआ। परमपूज्य वयोवृद्ध सव्यासव्य अनेकों भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान् श्री गुंडेराव हरकारे की विलक्षण विचक्षणता ने मेरी अर्हता को अतिक्रमण ही किया है। राजनीति जनजीवन के प्रत्येक पहलू से सम्बन्धित है। अतएव राजनीतिज्ञों की राय मेरे लिए अनिवार्य। विदुषीमणि डा० सरोजिनी महिषी, राज्य मंत्री विधि, न्याय एवं कम्पनी कार्य, जो मुझे टोकने से कभी चूकती नहीं, क्योंकि वे भर्तृहरि स्मारक मिशन की अध्यक्षा है और मैं उसका मंत्री। मगर मेरी सराहना में अतिशयोक्ति करने में वे आगे-आगे ही रहती हैं। युवराज डा० कर्ण सिंह स्वास्थ्य एवम् परिवार नियोजन मंत्री, वंश परम्परागत उदादरता से मुझ तुच्छ लेखक की कृति का समादर किया। गहन अध्ययन, गंभीर विचारशीलता, सर्वतोमुखी प्रतिभा, सुव्यवस्थित कार्य शैली, सर्वसुलभ उदारता के साथ विद्याविनय सम्पन्न ब्राह्मण रूपी बाबू जगजीवन राम, मंत्री कृषि एवम् सिंचाई भारत सरकार ने आज भारत का अन्न-भण्डार भरने का बीड़ा उठाने का साहस किया है तो कारण इसका उनका यही ज्ञान-भण्डार है।

मैं इन सब महानुभावों का अत्यन्त आभारी हूँ। मास्टर मनोहर लाल का भी आभारी हूँ जिन्होंने पुस्तक का मुख पृष्ठ संवारा और जनता-पेपरमार्ट चावड़ी बाजार का भी, जो पिछले दस साल से मेरे कागज की आवश्यकता पूरी करते रहे हैं। अन्त में श्री सुरेन्द्र मोहन हंस का आभारी जिन के प्रोत्साहन के बिना यह पोथी अभी अधरी ही पड़ी रहती।

९, जनपथ
नई दिल्ली
१-१-१९७५

वेंकट२२४ २म०म०

अनुक्रमणिका

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदम् पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

शब्दविच्छेद

पूर्णमदः = पूर्णम् + अदः
पूर्णमिदम् = पूर्णम् + इदम्
पूर्णमुदच्यते = पूर्णम् + उदच्यते
पूर्णमादाय = पूर्णम् + आदाय
पूर्णमेवावशिष्यते = पूर्णम् + एव + अवशिष्यते

शब्दान्वय

ओं, अदः पूर्णम्, इदम् पूर्णम्, पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णम् आदाय, पूर्णम् एव अवशिष्यते ।।

शब्दार्थ

ओम् = अ + उ + म्, यह त्रिगुणात्मक शब्द त्रिगुणातीत, त्रिकालातीत, त्रिलोकातीत परब्रह्म परमात्मा का द्योतक है,

अदः पूर्णम् = वह परिपूर्ण है

इदम् पूर्णम् = यह (भी) पूर्ण है (क्योंकि)

पूर्णात् = पूर्ण से

पूर्णम् = पूर्ण (ही)

उदच्यते = उभरता है (और)

पूर्णात् = पूर्ण से

पूर्णम् आदाय = पूर्ण के निकलने पर

पूर्णम् एव = पूर्ण ही

अवशिष्यते = रह जाता है, बना रहता है ।

भावार्थ

वह पूर्ण है, यह भी पूर्ण है, क्योंकि पूर्ण से पूर्ण ही उभरता है और यह सारी सृष्टि उसी पूर्ण परब्रह्म से उत्पन्न हुई है । परन्तु इस पूर्ण के निकल आने से उस पूर्ण में कोई कमी नहीं आती । वह ज्यों का त्यों बना रहता है । पूर्ण सदा सर्वदा पूर्ण ही है ।

विशेषार्थ

'अदः—वह', 'इदम्—यह', इस मंत्र में इन्हीं दो की चर्चा है। ये वह, यह, क्या है ? 'वह दूरस्थ को इंगित करता है और' 'यह' 'निकटवर्ती को। यों कहिए, 'यह' प्रत्यक्ष का द्योतक है और' वह 'परोक्ष का। 'यह' आंखों के सामने है और 'वह' ओट में—साधारण समझ-बूझ से परे।

जो सूझ-बूझ से भी परे हो, उसके बारे में बाद में विचार करेंगे। पहले इसकी बात करें, जो सामने है या सरलता से समझ में आसकता है। इस धरती और आकाश में जो भी है—पेंड़, पहाड़, पशु, पक्षी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, सबको हम देखते और समझते हैं। धरती के भीतर और आकाश के ऊपर बहुत सी चीजें और भी होंगी, जिनका अभी हमें ज्ञान नहीं। हमारे देखते-देखते कितनी ही नई चीजों का पता लगाया जा रहा है। ब्रह्माण्ड की सारी चेतन अचेतन और जानी अनजानी सृष्टि इस मंत्र के उपरोक्त इदम् 'यह' की परिधि में आती है और यहीं है, उस 'यह' इदम् का रूप।

अब इस प्रत्यक्ष जगत् का गुण। मंत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—'इदम् पूर्णम्', यह पूर्ण है। पूर्ण के माने जिसमें कोई त्रुटि नहीं, कमी नहीं। इस प्रकार सृष्टि की कोई भी वस्तु अपूर्ण या अधूरी नहीं है। तब तो, संसार असार है, इस प्रकार मान बैठना व्यर्थ है। इसके विपरीत संसार को सत्य तथा यथार्थ मानने के लिए मंत्र में भारी आधार प्रस्तुत है—'पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते', पूर्ण से पूर्ण ही उत्पन्न होता है। जैसा बीज, वैसा पेड़। आम से आम पैदा होता है और नीम से नीम। पूर्ण से अपूर्ण उत्पन्न नहीं हो सकता।

परन्तु यहां एक भारी शंका उठ खड़ी होती है। यदि यह किसी अन्य वस्तु से आयी है तो जितनी उसमें से निकल आयी है, उतने की उसमें कमी होगी, और दूसरे यह जो थोड़ी निकल आयी है, यह भी अधूरी है। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष और वह अप्रत्यक्ष, दोनों ही अपूर्ण रहीं। जैसे, एक भरे घड़े में से एक लोटा पानी भर लें, तो लोटा जरूर भरेगा, किंतु एक तो लोटे में घड़ा भर पानी भरेगा नहीं और दूसरे घड़े में लोटा भर पानी कम रह जायेगा। इस प्रकार लोटा और घड़ा दोनों अपूर्ण रह जायेंगे। परन्तु मंत्र के दूसरे चरण में इस प्रकार की शंकाओं का सुन्दर समाधान विद्यमान

है—'पूर्णस्य पूर्णम् आदाय पूणम् एव अवशिष्यते', उस पूर्ण से इस पूर्ण के निकलने पर भी वह पूर्ण ज्यों का त्यों पूर्ण बना रहता है। यह कैसे हो सकता है? जरूर हो सकता है। अपने लोटे घड़े को छोड़िए नहीं। उन्हें लेकर, हरद्वार में हर की पौढ़ी पर उतर पड़िए। बहती गंगा में घड़ा भर लीजिए लोटा भर-भर कर सिर पर उंडेले जाइए, अंजुलि भर-भर पिये जाइए और देखिए कि कितना जल घट जाता है गंगा का। उस बहती गंगा में संसार भर की प्यास बुझे, पर जलधारा ज्यों की त्यों प्रवाहित रहे। समुद्र में धरती की अनर्गल बडवाग्नि से और आकाश के प्रचण्ड मार्ताण्ड से न जाने कितना पानी भाप बनकर उड़ जाता है। क्या किसी ने कभी समुद्र को सूखते देखा है? चौरासी लाख योनियों में जन्मे न जाने कितने अरबों खरबों प्राणी प्रति क्षण अपने श्वासकोशों को भर-भर कर हवा को पिये जा रहे हैं। क्या कभी वायुदेव का खजाना खाली हुआ है? वायुमंडल से ऊपर आकाश में चन्द्र सूर्य चमक रहे हैं, जिनके उज्जवल प्रकाश को पेड़ पहाड़ भी लूटे जा रहे हैं। क्या सूर्य चन्द्र कभी फीके पड़ गये? जब इन्द्रियगोचर जल, वायु, तेज का यह हाल है तब उस अगोचर स्रोत के अपरम्पार होने में संदेह का अवकाश ही कहां रह जाता है?

अगोचर परमात्मा अथवा अपार पंच महातत्वों की उपमाओं से पृथ्वी के प्राणी को शायद संतोष न हो। मानव जगत में चलिए। ज्ञानोपदेश से क्या ज्ञानी में ज्ञान का ह्रास हो जाता है? क्या विद्यादान से शिक्षक की योग्यता गिरने लगती है? बच्चे को प्यार करने से माता की ममता में क्या कोई अंतर पड जाता है? दिल खोलकर बखेरने पर भी ज्ञानी के ज्ञान, शिक्षक की योग्यता एवम् माता की ममता में कोई अंतर नहीं पड़ता, वरन् उत्तरोत्तर उनमें वृद्धि होती है।

'जगत झूठा है, संसार असार है', इस प्रतिवाद का खण्डन इस मूल मंत्र से आप ही हो जाता है। अध्यात्मवाद और भौतिक वाद का झमेला निराधार लगता है। सगुण उपासना और निर्गुण उपासना का अंतर अंतर्धान हो जाता है। आस्तिक नास्तिक का विवाद व्यर्थ प्रतीत होता है। वे परोक्ष परमात्मा को मानते हैं। ये प्रत्यक्ष विराटस्वरूप पर विश्वास रखते हैं। उनके आत्म-समर्पण और इनके आत्म-विश्वास में अधिक अंतर नहीं है। दोनों ही का लक्ष्य पूर्णता की प्राप्ति है। ये पूर्णता को अपने तक लाना चाहते हैं और वे

पूर्णता तक अपने को ले जाना चाहते हैं। कौन कितनी जल्दी सफल होते हैं और कहां तक सफल होते हैं, विश्वास के साथ न वे कह सकते हैं और न ये।

परन्तु एक मान्यता यह तो चली आयी है कि सैकड़ों हजारों वर्षों में कभी कहीं और कहीं कोई लाखों-करोड़ों में एकाध प्राणी पूर्णता को प्राप्त हो सकता है। (—मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित् यतति सिद्धये। यततामपि-सिद्धानाम् कश्चित् माम् वेत्ति तत्वतः ।। भ० गीता) तो भी यह मर्यादा मानव ही को प्राप्त है। मानव तो उसी पूर्ण का अंश हो परन्तु उस पूर्णता को प्राप्त हो सैकड़ो, हजारों वर्षों के बाद, लाखों-करोड़ों में से एकाध, यह कैसी विडम्बना है? वह सत्य ही क्या जो सर्वसुलभ न हो।

उत्थान सारे समाज का एक साथ होता है और पतन भी एक साथ होता है। सर्वसाधारण को पूर्णता को प्राप्त होने के प्रशस्त मार्ग पर लाकर खड़ा करने के लिए ही उपनिषदों का अवतरण हुआ है। मन उलझे नहीं, वरन् मन की गांठ खुले और सारी उलझनें सुलझ जाएँ, यही उपनिषदों का मुख्य मंतव्य है और ये आस्तिक, नास्तिक, अध्यात्यवादी, भौतिकवादी, साम्य-वादी, पूर्वात्य, पाश्चात्य, अभ्युन्नत अनुन्नत और भिन्न-भिन्न मतावलम्बियों के लिए समान रूप से सदा सर्वदा श्रेयस्कर है।

आरम्भ में ही ऊपर जो कहा गया कि परोक्ष पूर्णता की बात बाद में देखेंगे, पहले प्रत्यक्ष पूर्णता की बात करें। अंत में भी इसी मंत्र के अनुसार यही कहना होगा कि मानव की परोक्ष-पूर्णता के लिए भी प्रत्यक्ष पूर्णता यदि अनिवार्य नहीं, तो अविस्मरणीय अवश्य है। यह सदा स्मरण रहे कि प्रत्येक प्राणी उसी पूर्ण का प्रतिबिम्ब है। अतः समाज में सब प्राणियों का समान स्थान है। अवश्य ही समाज में भिन्न-भिन्न मनुष्यो के भिन्न-भिन्न कर्त्तव्य होंगे, किन्तु मान-मर्यादा में समानता का साम्राज्य रहेगा। दीप से दीप जलाये जा, ज्योति से ज्योति जगाये जा।

यह मंत्र ईशावास्योपनिषद् का नहीं है। किन्तु उपनिषद् विद्या का मूल सूत्र होने के कारण सभी उपनिषदों के आरम्भ या अंत में प्रायः इस मंत्र का पाठ होता है। वैसे भी ईशोपनिषद् के प्रथम मंत्र से इस मंत्र का गहरा सम्बन्ध प्रतीत होता है।

— —

(१)

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।

शब्द विच्छेद

वास्यमिदम=वास्यम्+इदम्
कस्यस्विद्धनम्=कस्यस्वित्+धनम्

शदान्वय

जगत्याम् यत् किंच जगत् इदम् सर्वम् ईशा वास्यम् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः कस्यस्वित् धनम् मा गृधः ।।

शब्दार्थ

जगत्याम्=संसार में,
यत् किंच=जो कुछ
जगत्=विद्यमान है,
इदम् सर्वम्=यह सब
ईशा वास्यम्=ईश्वर से ओत प्रोत है,
(इसलिए)

तेन त्यक्तेन=उन सब को देकर, बचे खुचे को, या समान रूप में
भुंजीथाः=खाया करो,
कस्यस्वित् धनम्=किसी प्रकार के धन का,
मा गृधः=लालच न करो—परिग्रह न करो,

भावार्थ

जगत के सभी छोटे बड़े चेतन अचेतन में ईश्वर बसा हुआ है। मानव मात्र को चाहिए कि सब समान रूप से बाँट खायें और जमाखोरी न करें।

———

विशेषार्थ

उपनिषदों में ईशोपनिषद का सर्वोच्च स्थान है। नाम से लगता है कि इसमें केवल ईश्वर की महिमा गायी गयी होगी। परन्तु इस प्रथम मंत्र में जो कुछ कहा गया है वह मानव ही के संबंध में कहा गया है और कहा गया है मानव की शरीरयात्रा और उसके जीवन निर्वाह के संबंध में।

जिस प्रकार पिछले मंत्र में दो शब्द परोक्ष, प्रत्यक्ष अदः—(वह) और इदम्—(यह) का महत्व था उसी प्रकार इस मंत्र में विधि, निषेध के दो शब्द 'भुंजीथाः'—खाया करो, और "मा गृधः"—लालच मत करो, मुख्य हैं। मुक्ति के लिए भी मानव की भुक्ति को प्रधानता दी गयी है। प्राणिमात्र को संसार में सबसे पहले जो वस्तु परमावश्यक है वह है भोजन। इस विषय में मानव अन्य प्राणियों से अलग नहीं है। उसे जीना है और जीने के लिए खाना है। "अन्नाद्भवन्ति भूतानि", श्रीमद्भगवद्गीता में भी प्राणिमात्र के लिए सबसे पहले अन्न की बात कही गयी है। "भुंजीथाः—भोग लगाओ, खाओ"। सर्वोत्कृष्ट ईशोपनिषद में भी यही उपदेश है। अतः, संसार में भुक्ति के लिए युक्ति करना मुक्ति मार्ग का प्रथम सोपान है—भूखे भजन न होय गोपाला।

संसार में साधारणतया सभी लोग अपनी-अपनी सुविधा साधन के अनुरूप भुक्ति के लिए कोई न कोई युक्ति करते हैं और खाने के नाम पर कमाने की चेष्टा करते हैं। कोई भीख मांगता है तो कोई चोरी करता है। कोई खेती करता है तो कोई व्यापार। कोई चाकरी करता है तो कोई नौकरी। कोई सरकार बनता है तो कोई कर्मचारी बनता है। पर सब करते है कमाने के लिए और कमाने की छूट हैं लूट-खसूट तक। "भुंजीथाः" कह कर क्या उपनिषद ने लूट-खसूट की आम-छूट दे रखी है?

नहीं, उपनिषद का आदेश है—"तेन त्यक्तेन भुंजीथाः" उसका देकर या उससे बचा हुआ खाया करो। वह कौन? वही जो सब में बसा हुआ है—ईशा वास्यम् इदम् सर्वम् "यत्किंच", तनिक भी ऐसी वस्तु नहीं जिस पर उसका कब्जा न हो। हमारा तुम्हारा किसी पर कोई अधिकार नहीं। मात्र करवैया, किरायादार अथवा बटाईदार हैं, वह भी अधिया चौथैया के नहीं, वरन् निर्वाहमात्र के अधिकारी है। मगर मानव जानता है कि ईश्वर सामने आवेगा नहीं। जितना लम्बा हाथ मार सके बेखटके मार देता है।

इसीलिए सावधान किया गया है—'मागृध:,' लालच न करो। यहीं उपनिषद का निषेधादेश है।

क्यों साहब, यह रोक-टोक क्यों? सृष्टि पर सम्पूर्णाधिपत्य ईश्वर का है और हम उसी ईश्वर के प्रतीक हैं—पूर्णमद: पूर्णमिदम्। हम पूर्ण हैं इसलिए हमारा पूर्ण अधिकार। अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार सभी संसार पर या संसार की वस्तुओं पर अपना पूर्णाधिकार जताया करते हैं—ना विष्णु: पृथ्वीपति:, हम प्रभु हैं, परमेश्वर हैं। हम लखपति है, लक्ष्मीपति हैं, हमारा धन पर अधिकार। फिर सरस्वती के स्वामी कैसे पिछड़ते। किसी के पिछलग्गू बन जाते और अकड़पों मचाते हैं। उन्हें याद रखना चाहिए कि अकिंचन से अकिंचन भी ईश्वरोत्पन्न है और वह भी पूर्ण रूपेण संसार का स्वामी है। संसार एक साँझा बाजार है, जिस पर किसी व्यक्ति या एक दल का एकाधिकार नही है। यहां छोटे बड़े का सवाल नहीं, धनी दरिद्र का प्रश्न नही, नारी नर का प्रसंग नहीं। सबका सृजन समान रूप से हुआ है। सिरजनहार की सृष्टि में भेद-भाव का एकदम अभाव है। परन्तु मानव सर्वश्रेष्ठ सृष्टि है इसलिए उसके सिर पर गुरुतर उत्तरदायित्व, और इसीलिए उपनिषदों का उपदेश मानवमात्र के लिए है, अन्य प्राणी के लिए नहीं। ईशोपनिषद भी यही कहता है कि जनता-जनार्दन परोक्ष परमात्मा का प्रत्यक्ष-प्रतीक है। अत: "तेन त्यक्तेन भुजीथा:" सबके साथ समान रूप से संसार का उपभोग करो। और अगर घर गृहस्थीं के यजमान हो, मिल कारखाने के मालिक हो या सरकारी सत्ताधारी हों तो अधीनस्थ सब को तृप्त कर आप स्वयं सबसे बचा खुचा ही खाया करो। जितना बड़ा साधन-सम्पन्न उतनी ही बड़ी उस पर जकड़बंदी। सत्ता, सम्पति विद्वत्ता सेवा के लिए है, भोग विलास के लिए नहीं।

पिछले मंत्र में समाज में सबके प्रति समान सम्मान का आदेश था। इसमें आर्थिक समानता का निर्देश है। समाज में सबके लिए सम्मानपूर्ण भरण पोषण की व्यवस्था में बच्चों की समान शिक्षा-दीक्षा और बूढ़ों बीमारों की समान सेवा-सुश्रूषा भी शामिल है। इस मर्यादापूर्ण व्यवस्था को बनाये रखने के लिए विधि निषेध के दो अध्यादेश रखे हैं—१. त्यक्तेन भुंजीथा:, २. मा गृध: बचा खुचाखाओ, लालच न करो, अर्थात् सबको, भरपूर खिलाने के बाद आप खाओ और किसी भी प्रकार के परिग्रह की आशा न रखो।

———

(२)

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्मलिप्यते नरे ।।

शब्द विच्छेद

कुर्वन्नेवेह=कुर्वन्+एव+इह
जिजीविषेच्छतम्=जिजीविषेत्+शतम्
नान्यथेतोऽस्ति=न+अन्यथाः+इतः+अस्ति

शब्दान्वय

इह कर्माणि कुर्वन एव शतम् समाः जिजीविषेत् ।
एवम् त्वयि नरे कर्म न लिप्यते, इतः अन्यथा न अस्ति ।

शब्दार्थ

इह=इस संसार में
कर्माणि=कामों को
कुर्वन् एव=करते हुए ही
शतम् समाः=सौ साल
जिजीविषेत्=जीने की इच्छा करे
नरे=मानव के लिए
एवम्=इस प्रकार
कर्म=किये हुए काम
त्वयि=तुझे
न लिप्यते=लपेटे नहीं रहेंगे
इतः अन्यथा=इसके सिवा
(निस्तार का कोई उपाय)
न अस्ति=नहीं है

भावार्थ

मानव को चाहिए कि सदा काम करते हुए सौ साल तक पूर्ण जीवन जीने की चेष्टा करे। निष्ठा पूर्वक कर्तव्य दृष्टि से किये गये कर्म बंधनकारक नहीं हो सकते। कर्तव्य दृष्टि से कार्यरत रहने के सिवा मानव के लिए निस्तार का दूसरा कोई उपाय भी नहीं है।

विशेषार्थ

पिछले मंत्र में मानव के लिए भुक्ति अथवा भोजन आदि की सुविधा की बात कही गयी थी और यह भी कहा गया था कि औरों का हक पहुंचाने के बाद बचे हुए को अपना भाग माने और उसी पर जीवन निर्वाह करे।

इस मंत्र में उसी भुक्ति के जुटाने और जीने का सरल उपाय बताया गया है—काम करो और खाओ। बिना काम किये खाने का किसी को हक नहीं। इतना काम करो कि शक्ति का पूर्ण उपयोग हो, और इतना खाओ कि सौ साल तक जीते रहो। अर्थात् पूर्ण आयु का उपयोग करो, न कि बीच ही में काल के कौर बन जाओ।

यहां मानव के लिए तीन नियम गिनाये गये हैं—१. काम करना, २. खाना, ३. सौ साल जीना। जीने की बात ही पहले लें। "जातस्य हि ध्रुवं मृत्युः" भगवद्‌गीता में कहा है कि जो पैदा हुआ वह मरेगा ही। परन्तु यहां पर मरने की बात नहीं, वरन् जीने की बात कही गयी है और वह भी सौ साल जीने की। वेदों की घोषणा है—"जीवेम शरदः शतम्, नंदाम शरदः शतम् मोदामशरदः शतम्, बबुवामशरदः शतम् श्रृण्वाम शरदः शतम् पश्येम शरदः शतम्—" अंधें, लूले, लंगड़े बीमार बन कर नहीं, बल्कि अच्छे खासे स्वस्थ सुंदर रह कर सुखमय तथा आनंदमय जीवन बिताया करें। सौ साल के माने एक ही सौ नहीं है। "शत" शब्द अनेक और अनगिनत के लिए भी आता है। सैंकड़ों साल जीने वाले रहे हैं। आज के भारत में भी सौ से ऊपर वाले कोई पचास हजार से बढ़ कर जीवित हैं। स्वयं लेखक को ११५, १२० वर्ष के बुजुर्गों से परिचय प्राप्त है। पटियाले में ११५ वर्ष का सरदार फतेह सिंह (फतू तांगेवाला) आज भी तांगा जोत कर जीविका चला रहा है। सौ साल की अवधि मानव के लिए औसत आयु है स्वस्थ शरीर के साथ।

जीने के साथ खाना लगा हुआ है, जिसे उपनिषद ने पहले नम्बर पर रखा है। ऐसी वस्तुएं खाओ पियो और इतनी मात्रा में खाओ पियो कि स्वास्थ्य बना रहे—न इतना ज्यादा खाओ कि डाल दे बीमार, न इतना कम कि कमजोरी ही डाले मार, यह एक पुरानी कहावत है। रूस में एक दीर्घजीवी किसान है। १६५ की आयु में घोड़े की सवारी करता है। पूछा गया, उसके स्वास्थ्य का रहस्य क्या है ? उसने कहा—"घर पर दो जून खाता हूं। दिन

भर खेत पर काम करता हूँ। मांस नहीं खाता। शराब नहीं छूता। तम्बाकू नहीं पीता।

भारत में दाल, चावल, गेहूं, दूध, घी, तेल, साग-सब्जी, फल-फलारी का टोटा नहीं रहा। मांस मछली भी खाने वाले हैं। आजकल की बात छोड़िए। पीछे ऐसा न था, आगे भी नहीं रहेगा। समाज और सरकार मिल जुल कर योजनाबद्ध काम करें तो अकाल का डर नहीं रहेगा। आनन्द ही आनन्द रहेगा।

एक विशेष बात और है, जिसकी ओर सभी को ध्यान देना जरूरी है। लोग खाते हैं, पर कैसे खाना चाहिए वे जानते नहीं। कम खाने से कोई मरता नहीं, पर अधिक खाकर अक्सर बीमार पड़ते है। कम या अधिक का झमेला ही न रहे, यदि लोग धीरे-धीरे स्वाद लेते हुए खाया करें। हर कौर को सौ बार चबाया करें तो सौ साल जीना साधारण बात है। पानी पीने और सांस लेने में भी धीमे से काम लेने से स्वास्थ्य पर सुन्दर प्रभाव पड़ता है। धीरज धरो, मौज करो, देखो तो कैसा मजा आता है।

तीसरा नियम काम का है जो इस मंत्र का मुख्य विषय है। काम को आज-कल कमाई का साधन माना जाता है। कमाई व्यक्तिगत विषय हो जाने के कारण काम भी व्यक्तिगत बन गया है। वास्तव में काम सामाजिक विषय है। काम वही जो सामाजिक कारोबार को बढ़ावा दे। व्यक्तिगत काम वास्तव में व्यक्ति को समाज की सेवा के योग्य बनाये रखने के लिए मात्र है, जैसे खाना, पीना, सोना और आराम करना। 'कुर्वन्नेवेहकर्माणि", काम किये जाओ'। उपनिषद जो यह कहता है तो उसका अभिप्राय ही सामाजिक कार्य से है। किसान, मजदूर, दुकानदार, धोबी, नाई, दर्जी, मोची, सभी समाजिक काम करते हैं। आकाश में उड़ कर चन्द्र मंडल पर उतरना और गाँव शहर की सड़कों पर झाड़ू बुहार करना, दोनों सामाजिक कार्य हैं। काम हमेशा बड़ा है चाहे वह कोई काम हो। प्रधानमंत्री के काम और पहरेदार के काम में अधिक अंतर मानना समाज का अपमान है, सामाजिक अपराध है।

यह तो हुआ 'कौन काम ?' के बारे में। 'कितना काम ?' इस सम्बन्ध में भी समाज में भारी भ्रम फैला हुआ है। उपरोक्त फत्तू तांगेवाला शायद सौ साल से अधिक हुए समाज को सवारी दे रहा है। गाँव का किसान

जीवन भर रात दिन पानी पसीना एक करता है। मगर सरकारी नौकर हैं कि पचपन साठ साल की आयु तक प्रायः तीस साल की नौकरी में उनके काम के घंटों को ठीक-ठीक जोड़ा जाए तो पांच सात साल से बढ़ने के नहीं। परन्तु जीवन भर पेनशन पाने के पूर्ण अधिकारी बन जाते हैं। भारत की पचपन करोड़ की आबादी में मुश्किल से पचास लाख लोग पेनशन पाते होंगे। शेष साढ़े चव्वन करोड़ लोगों को निठल्ले बिठा कर कौन खिलाता है? सरकार की मौलिक नीति होनी चाहिए, व्यक्तियों को समाज सेवा के योग्य बनाना। बच्चों की शिक्षा का जो उद्देश्य है उसका प्रयोगात्मक दीक्षा सरकारी नौकरी का मक्सद होना चाहिए। अल्पावधि में उन्हें सेवा निवृत्ति कर देना चाहिए और नये स्नातकों को भरती करना चाहिए। इससे दो लाभ होंगे। एक तो सरकार को समय पड़ने पर देश भर से दीक्षित जन हाथ बटा सकेंगे और दूसरे नौकरपेशा लोग बुढापे की मायूसी का शिकार बन जाने से बच जायेंगे।

'न कर्म लिप्यते'—काम फंसायेगा नही, काम को लग कर करे और काम से लगाव न रखे, यह कैसे हो सकता है? काम के व्यक्तिगत धंधा मान लेने के कारण समाज की ऐसी धारणा बन गयी है। काम की कमाई का जरिया मान लेने से कमाई मानव को फांस लेती है और यही पाप का मूल कारण है। व्यक्ति समाज की सेवा करे और पापी बने, यह कैसी विडम्बना है? हलवाई मिठाई बनाने में दिल से लग जाय तो वह सोचेगा की लोग मिठाई खाकर उसकी प्रशंसा करेंगे। उल्टे यदि चीनी में आँटा मिलाकर और घी में डालडा डाल कर पैसा कमायेगा तो सच मानिये वह पाप कमायेगा। यहीं बात स्कूल के टीचर से लेकर सरकार के मिनिस्टर तक सब पेशेवरों की हांगी। परिणाम चल चला कर यही होता है कि लोग कर्त्तव्य को ताक पर धर कर अधिकारों के लिए लड़ने लगते हैं।

यहां पर कर्म के संदर्भ में भगवद्गीता के ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग तथा अनासक्ति योग और निष्काम कर्म पर भी कुछ विचार कर डालना उचित होगा।

ये तीन चार योगों की बात साधारण समझ बूझ से बाहर है। मानव के लिए कर्म अनिवार्य है। इसलिए इसे एक नाम देकर कर्म योग कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। कार्य अच्छा हो, इसके लिए अवश्य ही योग चाहिए। योग दो ही हैं, एक ज्ञान योग और दूसरा भक्ति योग। ज्ञान योग

के सीधे सादे अर्थ हैं उस कार्य के सभी सामाजिक पहलुओं को आत्मसात करके करना। और भक्ति योग माने हैं;—जिन में इतनी समझ बूझ न हो वे अपने काम को प्रेम से दिल लगाकर करें, बेगार समझ कर न करें। अब रही अनासक्ति। बिना आसक्ति के कोई काम पुर नहीं पड़ता। इसी प्रकार फल की आशा न रहे तो कोई किसी काम को क्यों करे? अनासक्ति काम के या निष्काम कर्म को अभिप्राय यही हो सकता है कि स्वार्थ बुद्धि से न करों परन्तु, जब कर्म की व्याख्या ही सामाजिक कार्य है तब किसी-किसी व्यक्ति, परिवार या किसी एक-एक साम्प्रदाय का सवाल ही नहीं उठता। इसी प्रकार "यज्ञ" भी समाजिक है समाज के लिए जो भी काम पूरी शक्ति लगाकर प्रेम पूर्वक करें वही यज्ञ हर।

उपनिषदों की व्यवस्था एकदम निराली है। इसमें अधिकार और कर्त्तव्य को एकरूपता दी गयी है, जिससे समाज और व्यक्ति के बीच संघर्ष की स्थिति ही उत्पन्न न हो। व्यक्ति समाज के लिए काम करता है। अपनी भुक्ति की चिन्ता उसे करनी ही नहीं पड़ती, क्योंकि समाज उसकी आवश्यकताओं को स्वयं पूरा करता है। इस प्रकार यहाँ समाज हो अथवा व्यक्ति कर्त्तव्य ही कर्त्तव्य है। व्यक्ति के कामों का फल समाज भोगता है और समाज सब व्यक्तियों के लिए भुक्ति का समान प्रबन्ध करता है। भुक्ति में केवल भोजन ही नहीं, छाजन, शिक्षण, शादी व्याह और घर-गृहस्थी भी सम्मिलित हैं। जहां यह हो वहां किसी को किसी का उपकार मानने की आवश्यकता पड़ेगी, न कोई किसी का अपकार करेगा।

तब तो यह कार्लमार्क्स के साम्यवाद-सा लगता है। संसार मे सभी विचारकों ने समाज के सुख शान्ति के सम्बन्ध में ही माथा-पच्ची की है। अतः सब में कुछ न कुछ समानता का पाया जाना स्वाभाविक है। तो भी आधुनिक वैज्ञानिक समाजवाद तथा प्राचीन वेदान्त विचारधारा में मौलिक अंतर है। वेदान्त व्यक्ति से समाज की ओर बढ़ता है, जबकि साम्यवाद समाज से व्यक्ति की ओर उतरता है। समाजवाद की मान्यता है कि सामूहिक रूप से समाज का उद्धार हुए बिना व्यक्ति का सुधार असम्भव है। इसके विपरीत उपनिषद व्यक्ति को शुद्ध मानता है और व्यक्ति विशेष द्वारा समाज के उद्धार की कल्पना करता है। समाजवाद न समाज को शुद्ध मानता है न व्यक्ति को। इसीलिए स्वार्थ विशेष के आधार पर वर्गविशेष और विभिन्न वर्गों के बीच संघर्ष के वह अनिवार्य मानता है। उपनिषद व्यक्ति, वर्ग और समाज,

सबमें पवित्रता की भावना रखता है और परस्पर संघर्ष के विपरीत आकाश परस्पर सहयोग को स्वाभाविक मानता है। वेदान्त के लिए वर्षा का पानी गंगा है, हिमालय की जलधारा त्रिलोक पावनी है, प्रयाग की त्रिवेणी परम पवित्र है, कालीघाट कलकत्ता का गंगासागर मुक्तिदायिनी है और सागर का खारा पानी भी अनंत आनंद का द्योतक है। उसके लिए अंड ब्रह्माण्ड में एकैक भावना विद्यमान है। जहाँ संघर्ष भी सहकार का सर्वोत्कृष्ट रूप धारण करे वहाँ वर्ग संघर्ष के लिए गुंजाइश ही कहां !

इस प्रकार के सहकार में सुख है तो सहकारमय संघर्ष में शान्ति है, परम शान्ति परमानन्द। जिस अगाध आनन्द में आप ही खो जाएँ वहाँ अपना पराया कहां ? यह वह अनुभव है जिसे एक-एक बच्चा अनुभव करता है, युवा करता है, पति करता है, पत्नी करती है, परिवार करता है। मेले-ठेले में यही आनन्द है और मेल का यही एकमेव फल है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में वर्गसंघर्ष के लिए बैठने बिठाने की जगह नहीं है। वर्ग का स्वार्थ हो अथवा व्यक्ति का, कार्य साधना में कर्म लपेट ही लेता है। 'कर्म न लिप्यते नरे', इसकी गारंटी 'वसुधैव कुटुम्बिकम्' में ही निहित है।

आज यह बात किसी के गले उतर नहीं रही है। आज-कल तो चारों ओर समाजवाद का नारा गूंज रहा है। पूंजीवादी भी और समाजवादी भी परस्पर प्रतिकूल व्यवस्था को मानते हुए भी एक दूसरे की नकल उड़ा कर आगे निकल जाने की चेष्टा कर रहे हैं। लोकतांत्रिक समाजवाद का नारा एक तीसरी विचारधारा का द्योतक है जो दोनों की अच्छाइयों को अपनाने की प्रक्रिया में दोनों की बुराइयों की चपेट में आसकता है। संसार में कहीं भी कोई भी वाद पूर्णरूपेण सफल हुआ है, इसका दावा कोई नहीं कर सकता। पूँजीवाद पैसे के बल पर पाशविक प्रवृत्ति को अपनाता है। साम्यवाद पाशविक बल से पैसे के शरण में जाता है। लोकतांत्रिक समाजवाद जब दोनों बल का परित्याग करके मानव मात्र के सामूहिक मनोबल पर आश्रित होजावे तभी मानव समाज का कल्याण होगा। 'न अन्यथा अस्ति' निस्तार का कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

(३)

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽवृता ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

शब्दविच्छेद

तमसाऽवृताः=तमसा÷आवृताः
तां्स्ते=तान्+ते
प्रेत्याभिगच्छन्ति=प्रेत्य+अभिगच्छन्ति
चात्महनः=च+आत्महनः

शब्दान्वय

ये के च आत्महनः जनाः ते प्रेत्य अन्धेन तमसा आवृताः असुर्या नाम लोकाः अभिगच्छन्ति ॥

शब्दार्थ

ये के च=जो कोई भी
आत्म हनो जनाः=अपनी आत्मा का हनन करके उसके विपरीत आचरण करने वाले होते हैं,
ते=वे
प्रेत्य=मरकर, मरने पर वे
अंधेन=कुछ भी सुझाई न पड़े ऐसे
तमसा आवृताः=अज्ञानाधकार से भरे
असुर्यानाम=आसुरी नामी
लोकाः=लोकों को
अभिगच्छन्ति=शीघ्र ही प्राप्त होते हैं, पहुंच जाते हैं

भावार्थ

जो लोग आत्मा से विमुख हो स्वेच्छाचारी बनकर इंद्रिय भोग में डूबे रहते हैं वे शीघ्र ही मर कर अज्ञान रूपी अंधकारमय आसुरी लोकों को प्राप्त हो जाते हैं ।

विशेषार्थ

पिछले मंत्र में मानव के लिए संसार से पार उतरने का सरल मार्ग बताकर सावधान किया गया था, "अन्यथा नास्ति" निस्तार का कोई दूसरा रास्ता नहीं है। इस मंत्र में उस सरल राह से बेराह होनेवालों के सम्बन्ध में कहा गया है कि उनकी कैसी दुर्गति होती है। जिन लोगों को संसार की सारी सुविधाएं प्राप्त हैं प्राय: वे समझते हैं कि खाना पीना और मौज उड़ाना ही जीवन का लक्ष्य है। वे समझते हैं कि उन्हें काम करने की कोई जरूरत नहीं। उनके लिए काम करने वाले बहुतेरे पड़े हैं। संसार मे ऐसे अभागों की भी कमी नहीं है जो उसी खाने पीने और जैसे तैसे मौज उडाने के लिए चोरी चमारी किया करते हैं। मर्यादा का अन्तर भले ही हो, किन्तु दोनों ही प्रकार के लोग मानव जीवन नहीं वरन् पैशाचिक जीवन व्यतीत करते हैं। दोनों ही पराये परिश्रम पर जीते हैं। वे सुख-सामग्री जुटा कर पाप का संचय करते हैं और ये उसे न पाकर पाप भोगते हैं। मरने तक उनका यही क्रम रहता है। उन्हें चिन्ता नहीं कि बे क्यों पैदा हुए, कैसे जी रहे हैं और मरने पर क्या होगा। वे यही समझे बैठते है कि जब हम ही नहीं रहेंगे तब हमें सोचने की क्या जरूरत, बस जब तक जियो मौज करो। व्यक्ति ही क्या, समाज और राष्ट्र भी आज अपनी ही बात को देख रहे हैं। महाशक्तियां भी यही पाप करती हैं।

प्रस्तुत मंत्र इसी धारणा पर चोट करता है—'प्रेत्याभिगच्छन्ति', कि मरते ही कहानी समाप्त नहीं होती। वे अकस्मात् मरते भी नहीं। "आत्म-हन:" मानो आत्महत्या करते हैं। बारबार आप ही मरते है। और आप ही जन्म भी लेते है। औरों को कोसते हुए वे अपनी जिम्मेदारी से बरी नहीं हो सकते। जीवन भर आसुरी कर्म करते रहे मरने के लिए, जबकि मानव जीने के लिए है, शाश्वत-जीवन जीने के लिए। परन्तु पल पल आसुरी कर्म में मन भरमाये रहे। इसीलिए वे फिर-फिर आसुरी योनि में जन्म पाये। एक शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर को धारण न करें तो क्या हुआ। मन का भी जन्म मरण होता है। अब वह आसुरी प्रवृत्ति और प्रबल होगी और आपके अमानवीय कृत्य और भी विकराल होंगे। गिरते-गिरते जड़ जीवन को प्राप्त होंगे। पेड़, पत्थर, कीट, पतंग, शूकर, वानर से मानव बने थे। मानव से ऊपर उठकर देव बनने का अब अवकाश था, पर उल्टे नीचे की ओर चल

पड़े। नीच योनि से उच्च योनि में पहुंचने के लिए न जाने कितने वर्ष लगते हैं और कितने जन्म लेने पड़े हैं। परन्तु उच्च योनि से नीच योनि में पहुंचने में देर नहीं लगती। मानव-जीवन में जहां बुद्धि का पर्याप्त विकास हुआ होता है, हम देखते हैं कि एक व्यक्ति को महात्मा बनने में कितनी तपस्या करनी पड़ती है। परन्तु उसी महात्मा को पतन के लिए क्षण भर नहीं लगता। निचली योनियों को सहज बुद्धि का एक मात्र सहारा होता है। इन्द्रिय सुख से आगे उनकी कोई आकांक्षा नहीं होती। मानव भी यदि अपने को इन्द्रियों का दास बना ले तो मानो वह मानव के रूप में पशु है। भूखण्ड पर समानांतर अक्षाँशु रेखाएं बनी हुई मानते हैं। किन्तु इस योनि जगत में वास्तविक समान्तर रेखाओं के रूप में कई स्तर बने हुए हैं। प्राणी को एक-एक स्तर पर कई-कई जन्मों तक रहना पड़ता है। मानवीय स्तर पर पहुंचने पर संभव हो कि अनेकानेक जन्मों तक उसी पर रहने का अवसर मिले। यहां से सात्विक प्रवृत्ति लेकर सुरलोक मे पहुँच सकते हैं, या तामसी प्रवृत्ति को अपनाकर आसुरी जगत में जा सकते हैं। राजसी प्रवृत्ति को शायद गाड़ी के पहिये के समान साधारण मानव बन कर चक्कर काटते हुए कभी ऊपर कभी नीचे चलना होता है। उन्हें देव स्तर पर पहुंचने में बहुत समय लगेगा, न जाने कै जन्म, बल्कि कई सौ जन्म। परन्तु आसुरी लोक में पहुंचने में अधिक समय नहीं लगेगा। मानव स्तर स्प्रिंग बोर्ड के समान है। सात्विक स्प्रिंग बहुत कड़ा है। सतत जोर मारने पर ही उसमें उछाल आता है। परन्तु तामसी स्प्रिंग उपक्रम करने मात्र से आसुरी जगत में उछाल फेंकता है। ऐसे ही लोगों को मंत्र में "आत्महनः" कहा गया है।

आत्महत्या इतना घोर कृत्य नहीं है जितना आत्महनन। आत्महत्या करने पर यह शरीर तो छूटेगा पर दूसरा कोई शरीर मिल जायेगा। आत्म-हत्या जीवन में एक ही बार हो सकती है। आत्महनन पग-पग पर होता है। आत्महनन में अपना वर्तमान शरीर रहता है, परन्तु इसी शरीर द्वारा अनेक पराये शरीरों की हत्या हो सकती है। औरों की कोई बात पसंद न आने पर आप अपनी हत्या करें तो यह आत्महत्या है, सो वह भी अच्छी बात नहीं। इसके विपरीत आत्महनन में अपनी आत्मा पर आप डंडा चलाते हैं। आत्मा उस पूर्ण परमात्मा को अंश होने और वही आत्मा सभी प्राणियों में विद्यमान होने के कारण अंतरात्मा सभी के कल्याण की बात सुझाती है। परन्तु उस पर कान न धरने और बार-बार उसके विपरीत आचरण करने से आत्मा दब

जाती है, वह प्रसुप्त हो जाती है और समय पर उसमें सावधान करने की शक्ति लुप्त हो जाती है। भ्रष्टाचारी और दुराचारी भी आत्मा की दुहाई दिया करते हैं। परन्तु वह उनका दम्भ मात्र है। उनकी आत्मा जब जाग्रत ही नहीं होती तब उसकी आवाज उन्हें कहाँ से सुनाई देगी। अपनी आत्मा का हनन करनेवाले न जाने कितनी आत्माओं का हनन करते हैं। इसी जीवन में वह असुर बन जाते हैं और मर कर घोर आसुरी जगत में जन्म लेते हैं।

आसुरी जगत के सम्बन्ध में मंत्र में कहा है—"अंधेन तमसा आवृत्ता:" अंधकार से भरा हुआ। अंधकार में किसी को कहीं कुछ सूझता नही। अंधे के समान जो हाथ लगे वह उसी को पकड़ लेता है और समझता है कि सब कुछ यही है। अंधों के हाथी की कहानी सभी ने सुनी है। पैर पाया हुआ अंधा हाथी को खम्मा मानेगा, कान पाया हुआ मानेगा सूप, और दुम को पाया हुआ झाड़ू। असुरजन दूरदर्शी न होकर तात्कालिक इन्द्रिय सुख में डूबे रहेंगे। सुअर को कीचड़ पसन्द आयेगा और कीट को गोबर। आसुरी जगत घोर अघोरी जगत है जिसमें समाज के अत्याचारी जन चिरकाल तक जीते मरते रहेंगे।

इस प्रकार पिछले मंत्र में मानव द्वारा "विधि" पालन की अपेक्षा करने के बाद इस मंत्र में उसकी उपेक्षा कर "निषेध" का अतिक्रमण करने पर दण्ड की व्यवस्था दी गयी है।

———

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्
तद्धावतोऽन्यानत्येषि तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वादधाति ।

शब्द विच्छेद

अनेजदेकं=अनेजत्+एकम्
नैनद्देवा=न+एनत्+देवाः
पूर्वमर्षत्=पूर्वम्+अर्षत्
तद्धावतोऽन्यानत्येषि=तत्+धावतः+अन्यान्+अत्येषि
तिष्ठत्तस्मिन्नपो=तिष्ठत्+तस्मिन्+अपः

शब्दान्वय

तत् अनेजत् एकम् मनसः जवीयः
पूर्वम् अर्षत् एनत् देवाः न आप्नुवन्
तत् तिष्ठत् धावतः अन्यान् अत्येषि
तस्मिन् मातरिश्वा अपः दधाति ॥

शब्दार्थ

तत्=वह
अनेजत्=अचल, अटल
एकम्=एक ही एक
मनसः=मन से भी
जवीयः=वेगवान है
पूर्वम्=अनादि
अर्षत्=चेतन स्वरूप है
एनत्=इसे
देवाः=देवगण भी
न आप्नुवन्=नहीं पा सके
तत्=वह
तिष्ठत्=स्थिर रहते हुए भी
धावतः=दौड़ते हुए
अन्यान्=दूसरों को
अत्येषि=पार कर जाता है
तस्मिन्=उसी के कारण
मातरिश्वा=वायुदेव
आपः=जल
दधाति=दे पाते हैं

भावार्थ

वह परम पुरुष परमात्मा अपने स्थान पर एकदम स्थिर है, फिर भी सबसे वेगमान मन से भी वह अधिक वेगमान है। उस अनादि स्वरूप के मर्मको देवादिदेव भी नहीं पा सके हैं। नित्य स्थिर रहते हुए भी वह सदा भाग-दौड़ करनेवालों से आगे निकल जाता है और हवायें उसी के बल से जल को धारण करती और धरती पर बरसाया करती हैं।

विशेषार्थ

आरम्भिक मंत्र में कहा था—पूर्णम् अदः पूर्णम् इदम्, वह जगत्कर्ता पूर्ण है और यह जगत भी पूर्ण है। इस जगत की विशिष्ट प्राणी मानव के व्यवहार के सम्बन्ध में पिछले तीनों मंत्रों में विश्लेषण किया गया था। "इदम्" अर्थात् इस जगत की बात को वहीं तक छोड़ कर इस मंत्र में "अदः" अर्थात् उस परात्पर शक्ति की चर्चा उठायी गई है। महा विचित्र है उस परा शक्ति की चर्चा। वह एकदम स्थिर भी है और अनन्त वेगवान भी। बैठा रहता है पर दौड़नेवालों को पछाड़े रहता है। वह बड़े-बड़े जानकारों का जानकार है और दौड़नेवालों को दौड़ानेवाला है। उसके सामने इनकी दौड़-धूप दम तोड़ कर रह जाती है और सारा ज्ञान अज्ञान बन कर रह जाता है। ये गुण इतने परस्पर विरोधी हैं कि उनका एक साथ पाया जाना असम्भव लगता है। इससे तो अविकसित आदिमानव क्या, आज के अतिविकसित मानव के मन में भी भ्रम उत्पन्न होता है। यही कारण है कि इस संसार में उस सर्वेश्वर की सर्वज्ञता में शंका सदा से रही है और मानव का मन बिना समाधान पाये संतुष्ट नहीं होता। समाधान मिले या न मिले, मन को मना लेना मानव का स्वभाव है।

जीव-जन्तु जीने को तरसते हैं और हम देखते हैं कि जीव ही जीव का आहार है। दूसरे को मारता है और आप जीना चाहता है। आदिम अवस्था में मानव ने अपने इर्द-गिर्द जिन घातक जंतुओं को देखा और जिन पर वह काबू न पा सका उन्हीं को ईश्वर मान कर पूजने लगा। मानव के लिए ईश्वर वही रहा जिस पर उसका काबू न रहा। मानव का कदाचित् यही स्वभाव है, क्योंकि आज के अत्यन्त विकसित समाज में भी, रूप में भले ही भारी अन्तर हो, मानव मात्र का यही दृष्टिकोण साफ झलकता है। प्रायः लोग मारने या बचानेवाले की ही पूजा करते हैं। प्राचीन मानव ने धरती के शेर को ईश्वर समझा, फिर इंद्र चंद्र समुद्र को पकड़ा। बुद्धि के विकास के साथ औतार, पैगम्बर और देवदूत को मानने लगा। देश काल के भेद से देवी देवता भी बदलते रहे। एकीश्वरवाद चला, किन्तु मंदिर मस्जिद और गिरजा घर अलग-अलग बनते रहे। मत मतान्तर में मार काट भी रही। भिन्न-भिन्न भगवानों को माननेवाले भी और एकदम भगवान को न माननेवाले महान से महान बलवान और बुद्धिमान् भी समय आने पर मानरक्षा क्या स्वयं अपनी प्राण-रक्षा भी न कर सके।

इधर जन्म उधर मृत्यु और इन दोनों के बीच छोटे से जीवन में यह अद्भुत हलचल कैसी ? उस घटाटोप अंधकार में इस बिजली की कौंद का कारक कौन ? इसका असली जवाब उपनिषत्कारों ने आज से हजारों वर्ष पूर्व दे रखा है। उनका काम सामने धरा है, पर उनका अता-पता कुछ नहीं। कुछ एक की मान्यता है कि सृष्टि सामने है, पर ईश्वर कहाँ है ? वे जानते नहीं, इसीलिए मानते भी नहीं। परन्तु उपनिषत्कारों की यह कोई कोरी कल्पना नहीं है। उन्होंने स्वयं अनुभव किया है। तभी तो उपनिषदों का यह उद्घोष—

> **एकम्** —ईश्वर एक ही एक है। वह पूर्ण है, इसलिए अकेला ही सब कुछ है। एकम् एवं, द्वितीयम् नास्ति। दृग्गोचर चराचर सृष्टि भी वही है और अदृश्य कर्ताधर्ता भी वही है।

अनेजत्—एक है तो वह एक रस भी है। स्थिर है। हिलता डूलता नहीं। घटता बढ़ता नहीं। अविभाज्य है। अपरिवर्तनीय है। मिश्रण हो तो विश्लेषण हो। यह हमारी पृथ्वी ही नहीं सारी सृष्टि पर भीतर बाहर वही छाया हुआ है सारे ब्रह्माण्ड में वही का वही भरा हुआ है। हिलने डुलने, लेटने, करवट बदलने या उठने-बैठने की न उसे आवश्यकता है और न कोई खाली जगह बची ही है। ईश्वर की इससे बढ़ कर कल्पना दूसरी हो ही नहीं सकती।

मनसो जवीय :—ईश्वर मन से भी अधिक वेगमान है। वेग में मन से तुलना इसलिए की गयी है कि मन से अधिक वेग किसी और में हो नहीं सकता। ज्यों ही विचार आया कि मानव अपनी ही जगह बैठा रहता है, पर मन हजारों मील दूर पहुंच जाता है। अभी देखा भी नहीं, कल्पना से न जाने कहाँ पहुंच जाता है। स्वप्नावस्था में तो पल भर में हम सशरीर कहाँ से कहाँ पहुंच जाते हैं। परन्तु ईश्वर में उस मन से भी अधिक वेग है। मन जितने ही शीघ्र कहीं भी पहुंचे, सर्वव्यापी होने के कारण पहले ही से ईश्वर वहाँ विद्यमान है। इस प्रकार स्थिर होने पर भी स्वभावनया उसमें गति भी है। इसके सिवा इस मन और उसकी गति में भी तो ईश्वर व्याप्त है—ईशा वास्यम् सर्वम् इदम्। अदः, इदम् दोनों में वही एक है।

एनत् देवाः न आप्नुवन् :—उस परमेश्वर को पाने में देवता भी असफल हैं। ऊपर मन की बात कही गयी है। इसलिए यहाँ मन के बाद इन्द्रियों की असमर्थता दिखायी गयी है। 'देव' शब्द इन्द्रियों के लिए भी आता है। मन दूर की वस्तु को भी पकड़ सकता है, सो वह असमर्थ रहा ही। इन्द्रियां

अर्थात् आंख, कान, आदि समीपस्थ को समझ पाते हैं। ईश्वर सर्वव्यापी होने से पास भी है, पर हमारी आँखों को वह दिखाई नहीं पड़ता। कान उसका शब्द सुन नहीं सकते। नाक उसकी बू नहीं पा सकती। जीभ बखान से लाचार, तो गूंगा बन कर उसका स्वाद लेना भी संभव नहीं। अन्धे बन कर स्पर्शमात्र कर सकें, यह भी असंभव है। इन्द्रियाँ साधन मात्र तो हैं। उदाहरण के लिए आँख को लीजिए। आँख एक शीशा मात्र है यदि उसके पीछे मन काम न करे। मन तो पहले ही हार बैठा है। अब इस निरी यांत्रिक क्रिया का क्या प्रयोजन।

तिष्ठत् धावतः अन्यान् अत्येषि :—बैठे ही बैठे वह और दौड़ लगाने वालों को पछाड़े रहता है। ये दौड़नेवाले उस सर्वव्यापी के सामने इतने छोटे-छोटे हैं और इतनी छोटी-छोटी जगहों को घेरे हुए है कि ये जहां भी पहुचते पहले ही उसे वहाँ मौजूद पाते हैं। उस अपार शक्ति को ये कभी पार ही नहीं कर पाते।

तस्मिन् मातरिश्वा अपः दधाति :—वह बैठे हो बैठे उन दौड़नेवाले सूर्य, चंद्र, वायु आदि में गति, तेज, आर्द्र आदि उत्पन्न करता हैं, नहीं तो वे सब एक दम निर्वीर्य हो जाएं। भगवद्गीता में कहा भी है कि सृष्टि के अन्दर जिस किसी में जो विशेषता है वह सब उसी पराशक्ति का प्रतीक हैं। जब ईश्वर की यह स्थिति है तब नाना देवताओं को पूजनेवालों को यही भावना रखना चाहिए कि वे उसी परमेश्वर की आराधना कर रहे हैं। एकीश्वर-वादियों को चाहिए कि अन्य मतावलम्बियों पर आक्षेप न करें। इसी प्रकार ये दोनों अनीश्वर वादियों को भी न अलगावें। अति प्राचीन काल से उपनिषद की यह शिक्षा भारतीय रक्त में रम चुकी है। यही कारण है कि यहाँ इतने सारे धर्म साथ-साथ रह सके हैं जबकि अन्य भूखण्डों में एक धर्म के प्रचार से दूसरे धर्म लुप्त-से हो गये।

'अदः' एवम् 'इदम' में जब एक ही तत्व विद्यमान है तब आध्यात्मिक भारत भौतिकवाद को आत्मसात कर अभ्युदय को ही प्राप्त होता रहा है और भविष्य में भी यही होगा।

---

(५)

तदेजति तन्नैजति तत् दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यस्य बाह्यतः ।।

शब्द विच्छेद

तदेजति=तत्+एजति

तन्नैजति=तत्+न एजति

तद्वन्तिके=तत्+उ+अन्तिके

तदन्तरस्य=तत्+अन्तरस्य

तदु=तत्+उ

सर्वस्यास्य=सर्वस्य+अस्य

शब्दान्वय

तत् एजति, तत् न एजति, तत् दूरे, तत् उ अन्तिके ।
तत् अस्य सर्वस्य अन्तरस्य, तत् उ सर्वस्य बाह्यतः ।।

शब्दार्थ

तत् एजति=वह चलता भी है

तत् न एजति=वह नहीं भी चलता है

तत् दूरे=वह दूर भी है,

तत् अन्तिके=वह पास भी है,

तत्=वह

अस्य=इस

सर्वस्य =सब के

अन्तरस्य=अन्दर भी है,

तत् उ =और वह

सर्वस्यास्य=सबके

बाह्यतः=बाहर भी है

भावार्थ

वह अपनी जगह से हिलता भी नहीं है, और सभी जगह जा पहुंचता भी है। वह एकदम पास भी है, और अत्यन्त दूर भी है। वह सब के भीतर भी है और बाहर भी है।

विशेषार्थ

तत् एजति तत् न एजति :—वह चलता भी है और नहीं भी चलता है। न चलते हुए भी चलता रहता है और चलते हुए भी स्थिर रहता है। ईश्वर ही में क्या, इन्सानों में भी विरोधाभास प्रायः दिखाई देता है। समाज में कुछ ऐसे सिद्ध पुरुष दिखाई पड़ते हैं जो देखने में गंदगी से भरे रहते हैं और बोलते हैं तो गाली बकते है। फिर भी उनके शरीर से दुर्गन्ध नहीं आता और उनकी गाली भी असीस सिद्ध होती है। समाज से बहुत दूर गुफाओं और कंदराओ में महात्मा पड़े रहते हैं, पर वहीं से बिना बोले—सुने समाज का कल्याण करते हैं। साधारण शरीरधारी भी बैठा कहीं है और मन उसका कही दूर विचरता रहता है। तब उस इंद्रियातीत सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान परमात्मा में विरोधाभास यदि हो तो इसमें संदेह क्यों किया जाए ?

तत् दूरे तत् अंतिके उ :—वह पास भी है और दूर भी है। उपरोक्त चल अचल की स्थिति के स्पष्ट हो जाने पर इस दूर पास का होना उसके लिए स्वाभाविक है। पास हो तो दूर जा सकता है और दूर हो तो पास आ सकता है। मैं यहाँ बैठा हूं। मेरे हृदय में या दिमाग में मेरा मन बैठा है, जिसे रक्त और माँस में लपेट कर हड्डियों के पिंजड़े में बंद कर ऊपर से चाम का चदरा मढ़ रखा है। इतना सुरक्षित मन मुझे छोड़कर कहां-कहां चला जाता है। समुद्र पार कर, धरती को चीरकर, आकाश को लाघ कर, न जाने कितनी दूर चला जाता है। इतनी दूर जाने पर भी क्या वह मेरी ही पसली के भीतर नहीं है ? दो पड़ौसी हैं। अगल-बगल दरवाजे खुले है। परन्तु मन-मुटाव इतना है कि दोनों दरवाजे बंद हैं एक दूसरे के लिए। कोई-कोई पति-पत्नी ही हैं। एक बिस्तर पर है। फिर भी मन भटकाये दूर-दूर पड़े हैं। एक अफसर है और एक चपरासी। दोनों एक ही दफ्तर में हैं। हर जरूरत पर अफसर घंटी बजाता है और चपरासी "हाजिर हजूर" कहता है। क्या उनमें जमीन आसमान की दूरी नहीं है। ईश्वर भी ऐसा ही है। जो उससे प्रेम रखते हैं, वह उनके घर पानी भरता है। मगर मंदिर का एक पुजारी है जो सांझ सवेरे भगवान की मूर्ति का सिंगार करता है, भोग चढ़ाता है, आरती उतारता है, पर वह सब कुछ करता है भक्तों की भेंट से अपना पेट भरने के लिए। भगवान उससे दूर ही दूर भागता है। यहाँ तक मान्यता है कि मंदिर का पुजारी कुत्ते का जन्म पाता है।

तत् सर्वस्य अन्तः सर्वस्य बाह्यतः उ :—वह सबके भीतर भरा हुआ है और उन्हें बाहर से भी घेरे हुए हैं। साधारण हवा को ही लीजिये। हवा हमारे शरीर के भीतर फेफड़ों में सदा भरता खाली होता रहता है। शरीर के नवरंध्र ही नहीं, रोम-रोम के लाखों रंध्रों में से वह भरता और नस नस में बहते हुए निकलता रहता है। इसी प्रकार हवा बाहर भी है और तनिक भी जगह हवा से खाली नहीं है। साधारण हवा ही भीतर बाहर जब इस प्रकार भरा रह सकता है तब उस परमेश्वर के संबंध में भीतर बाहर भरे रहने में क्या संदेह हो सकता है।

इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वरीय गुण अंश मात्र में ही क्यों न हो सभी में पाये जाते हैं। परन्तु परमेश्वर और सांसारिक मानव तथा वस्तुओं में भारी अन्तर है। ये अंशमात्र है, इसीलिए उसके आंशिक गुण पाये जाते हैं और परस्पर विरोधी गुणों का भी अपूर्ण प्रदर्शन होता है। फिर भी वह पूर्ण हैं। अपूर्णता का दोष हमारा है, क्योंकि एक ओर हमने कली को खिलने नहीं दिया और दूसरी ओर उस पूर्ण को प्राणवत् नहीं माना।

पिछले मंत्र और इस मंथ में एक विशेष अंतर और है। पिछले मंत्र में उस परातत्व परमात्मा के एकत्व को दिखाया गया था। प्रस्तुत मंत्र में उसके अनेकत्व को दर्शाया गया है। पिछले में आप अचल रहकर अन्य शक्तियों को चलायमान रखा था। इस मंत्र में स्वयं उसमें भी संचलन विद्यमान है। स्रष्टा की भांति सृष्टि में भी ये दोनों गुण पाये जाते हैं। एकदम स्थिर-सी दीखने वाली यह धरती सदा घूमती रहती है और कभी-कभी इसमें ऐसी भयंकर भूंचालें आती हैं कि अचल कहानेवाले पर्वतराज भी भूगर्भ में धंस जाते हैं और पिघल कर पच जाते हैं। तपस्वियों के स्थिर योग में भी ऐसी घटनाएं घटित हुआ करती हैं। पिछले मंत्र के साथ प्रस्तुत मंत्र को जोड़ कर पाठकों को अगले मंत्र का दरवाजा खटखटाना होगा।

"ईशावास्योपनिषद" के प्रथम मंत्र में सर्वप्रथम जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं वह है :—ईशावास्यम् इदम् सर्वम्। सृष्टि भर में ईश्वर व्याप्त है। इसलिए इस सृष्टि में जो गुण पाये जाते हैं, वह सब इश्वरीय गुण ही हैं। यदि सृष्टि की सारी शक्तियां एक साथ उभर उठें तो कदाचित् प्रलयकारी सिद्ध हों। मानव सर्वश्रेष्ठ सृष्टि होने के कारण यह भी सम्भव है कि यदा-कदा स्वयं

समाज ही सामूहिक रूप से अपनी पुरानी केंचुली को उतार फेंक दे और नव-नाग बन कर दमक उठे। जिस ससाज को हम नीरस, बेजान और मुर्दा समझ बैठे हों, वही समाज एकाएक अंगड़ाई लेकर उठ खड़ा हो और पुराने अंजरपंजर को तोड़-ताड़ अर समाज के लिए एक नया सांचा ही तैयार करले। चूंकि "अदः" सामान्यतया मानवीय पकड़ से परे है, इसलिए मानव को चाहिए कि "इदम् सर्वम्" की अवहेलना कभी न करे।

———

(६)

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्व भूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।

शब्द विच्छेद

यस्तु = यः + तु
भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति = भूतानि + आत्मनि + एव + अनुपश्यति
चात्मानं = च + आत्मानम्

शब्दान्वय

यः तु सर्वाणि भूतानि आत्मनि एव अनुपश्यति
च आत्मानम् सर्वाणि भूतेषु अनुपश्यति
ततः सः न विजुगुप्सते ।।

शब्दार्थ

यः तु = जो कोई
सर्वाणि = सभी प्राणियों को
आत्मनि एव = आत्मा में ही, अपने मे ही
अनुपश्यति = सदा देखता है, समझता है
च = और
आत्मानम् = अपने आपको, आत्मा को
सर्वाणि भूतेषु = सभी प्राणियों मे
अनुपश्यति = सदा देखता और अनुभव करता है, और जब यह उसका स्वभाव बन जाता है
ततः — तब (वह किसी के प्रति)
न विजुगुप्सते = घृणा नहीं करता, सब को अपने ही समान मानता है

भावार्थ

जो व्यक्ति अपने को अन्य सभी प्राणियों के समान एक प्राणि मानता है और अन्य सबको अपने ही समान देखता है, उसके दिल में किसी के प्रति घृणा के भाव नहीं हो सकते, वह सब पर प्रेम ही प्रेम बरसाया करता है।

विशेषार्थ

पिछले मंत्र में समस्त चराचर जगत को सर्वेश्वरस्वरूप सिद्ध किया था। उस सर्वशक्तिमान सर्वेश्वर का सान्निध्य प्राप्त करने का इस मंत्र में मानव के लिए सरलतम उपाय प्रस्तुत किया गया है। उस अदृश्य सृष्टिकर्ता या इस दृश्यमान जड़जगत की बात न उठा कर चेतनयुक्त मानव से कहा गया है कि "तत् एजति", इस जगत मे जो भी चलते फिरते प्राणी हैं उन सब में वही प्राण वर्तमान है जो तुम में है। इसी हेतु तुम उन सबको अपने आत्मा-रूप में साक्षात् करो और मान लो कि वे भी तुम्हारी ही श्रेणी मे सम्मिलित हैं। इसी प्रकार यह भी जान लो कि तुम स्वयं भी उन्हीं की श्रेणी में हो।

यहा एक शंका उठती है कि एक ही बात को दोहरा कर क्यों कहा गया? अन्य प्राणियों के समान मानव भी एक प्राणी है, तो अन्य प्राणी भी स्वयमेव मानव के समान हो गये। शब्द सीधे सादे जरूर है पर भारी अन्तर है। "आत्मनि सर्वाणि भूतानि" कहने मे शेष सब प्राणियों पर मानव का स्वामित्व झलकता है। मानव के इसी दुर्भिमान को चकनाचूर करने के लिए मंत्र में साथ ही स्पष्ट कर दिया गया है कि जिस प्रकार मानव अन्य प्राणियों में है उसी प्रकार अन्य प्राणी मानव में भी हैं। मानलो एक बड़ा सरकारी दफ्तर है। मगर वह दफ्तर अफसर का भी है और चपरासी और कलर्कों का भी है। फिर भी मालकाई उस पर किसी की नहीं। "यह मेरा गाँव है", कहने मात्र से मैं गांव भर का मालिक नही बना। अन्य सब लोगों का गाँव भी वही है। सबके लिए गांव बराबर और गाँव सबके लिए बराबर। देश की उपमा अधिक जचेगी। सब लोग देश में रहते हैं परन्तु देश किसी एक व्यक्ति का नहीं है, सब का है।

उपनिषदों के प्राचीन भाष्यकार तथा अर्वाचीन व्याख्याताओं ने भी इस मंत्र में प्रयुक्त शब्द "आत्मानम्" को परमात्मा की परिभाषा देकर सब प्राणियों को परमात्मा में और परमात्मा को सब प्राणियों में देखने की व्याख्या दी है। मान लें कि यही परिभाषा ठीक है। परन्तु यहां तो प्रश्न मानव का है। सभी स्वीकार करेंगे कि देवताओं अथवा पशु पक्षी को उद्देश्य करके उपनिषद नहीं कहे गये हैं। बहते पानी, चलती हवा अथवा स्थावर पेड़ पहाड़ के लिए भी नहीं। यहाँ पंच-महाभूत का प्रसंग नहीं है।" यः तु अर्थात् "जो मनुष्य", इन स्पष्ट शब्दों से इस मंत्र का आरम्भ होता है। यदा-कदा

किसी सिद्ध पुरुष ने यदि सभी प्राणियों को परमात्मा और सब में परमात्मा का अनुभव किया तो उस महापुरुष ने स्वयं अपने को कहां रखा ? यही तो कहा जायेगा कि वह स्वयं भी उसी में लीन हो गया। होते होगे कल्पकल्पांतर में करोड़ों में कोई एकाध ऐसे महात्मा। ऐसी पवित्र आत्माओं के लिए उपनिषदों की आवश्यकता ही कहां रह जाती है ? इसके अतिरिक्त मंत्र का अन्तिम शब्द "विजुगुप्सते" भी विचारणीय है जिसके अर्थ होते है, वह किसी से घृणा नहीं करता। परन्तु आत्मदर्शी समदर्शी होता है। वह किसी से घृणा क्यों करने लगा। घृणा का यह अवगुण साधारण मानव में होता है। घृणा को त्यागने पर उसमें प्रेम का उदय होता है और तभी वह सब प्राणियों को अपने ही समान मानने की चेष्टा करता है। इस प्रकार हमे स्वीकार करना पड़ेगा कि उपनिषदों का अवतरण जनसाधारण के उद्धार के लिए हुआ है। इसी दृष्टि से आत्मनि एवं आत्मानं की यह मानवीय परिभाषा उपयुक्त है और इसकी साधना साधारण मनुष्य के लिए भी सरलसाध्य है।

———

(८)

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्‌विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्मतः ।।

शब्दविच्छेद

भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः=भूतानि+आत्म+एव+अभूत्+बिजानतः

एकत्वमनुपश्यतः=एकत्वम्+अनुपश्यतः

शब्दान्वय

यस्मिन् विजानतः सर्वाणि भूतानि आत्म एव अभूत् ।
तत्र एकत्वम् अनुपश्यतः कः मोहः कः शोकः ।।

शब्दार्थ

यस्मिन्=जिस स्थिति में
विजानतः=सब कुछ भली भाँति जाने हुए व्यक्ति को अर्थात् ज्ञानी पुरुष को
सर्वाणि भूतानि=सभी प्राणी
आत्म एव=आत्मा ही, आप ही आप
अभूत्=हो जाते हैं,
तत्र=उस अवस्था में
एकत्वम्=एकता, समानता
अनुपश्यतः=देख पाने अनुभव करने वाले को
कः मोहः=किसी पाये हुए खास व्यक्ति या वस्तु के प्रति कोई अनुराग कैसे हो सकता
कः शोकः=या खोये हुए के लिए कौन दुःख हो सकता है । अर्थात् ऐसा व्यक्ति पाने खोने के सुख दुख से मुक्त हो जाता है ।

भावार्थ

ज्ञानी पुरुष सभी प्राणियों में एक ही आत्मा का दर्शन पाता है । उसे अपने पराये का बोध नहीं होता । ऐसा ज्ञानी संसार को आनी जानी मान कर सुख दुःख से सदा सर्वदा मुक्त रहता है ।

विशेषार्थ

पिछले मंत्र में बताया गया था कि संसार में मानव को चाहिए कि वह अन्य सभी को अपने समान देखे और किसी से घृणा न करे अर्थात् सब से प्रेम करे। इस मंत्र में उस प्रेममय जीवन में जो सम्भावित बाधाएं हैं उनके उन्मूलन की चर्चा है।

संसार को सुख-सागर कहें तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। मानव मात्र स्वभावतया सुखाभिलाषी है, परन्तु वाबेला करता है सदा दुख का। इस संसार में सुख को खोजने की आवश्यकता नहीं है। सुख सदा सर्वत्र वर्तमान है। फिर यह दुख कहाँ से टपक पड़ता है? मानब स्वयं सम्मुख विद्यमान सुख से विमुख होता है और खोद-खोद कर दुख का बीज आप बोता है। उसी दुख-बीज को मंत्र में 'मोह' कहा गया है और उस मोह वृक्ष की शाखोपशाखाओं में प्रस्फुटित फूल-फल को 'शोक'। मानव के लिए वहीं फूल काँटे बनते हैं जो सदा खटकते रहते हैं और वही फल बिष बनकर घातक सिद्ध होते हैं। दु:ख के लिए खोद-खाद न करे तो मानव के लिए सुख ही सुख है।

फिर मानव ऐसी भूल क्यों करता है? लगता यह है कि भूलवश ऐसा नहीं करता वरन् पूर्व-स्मृति के कारण वह ऐसी हरकत करता है। यह सर्व-मान्य सिद्धान्त है कि मानव सृष्टि का अत्यन्त विकसित प्राणी है। क्षुद्र प्राणी से बढ़ते-बढ़ते अथवा नाना योनियों में से होकर उसने मानव शरीर पाया है। इससे पूर्व अविकसित प्राणी के नाते इन्द्रियों से जानकारी प्राप्त करता था और पंजों से खरोच कर और थौथनी से खोद खादकर उसे पाने की चेष्टा करता था। उसी चिराभ्यास के कारण, शायद, मानव-जन्म में पशुवृत्ति की पुनरावृत्ति करता है। मगर इस प्रकार खोद-खाद कर मानव अपने मार्ग को गड्ढों से भर देता है और औंधे मुंह गिर पड़ता है। संसार में यह द्विपाद जंतु पेट की फिक्र में पशु-जीवन व्यतीत करता है। मानव-पशु में वास्तविक पशु से आगे बढ़ कर परिग्रह की प्रवृत्ति पैदा होती है। इसीलिए 'ईशावास्योपनिषद्' ने आरम्भ में ही चेतावनी दी है—'मा गृधः' लालच न कर!

मानव जन्म में विकसित बुद्धि के कारण मानो उसमें पर फूट पड़ते हैं, ताकि मानव उड़ान भर कर ऊर्ध्वगामी बन जाय और अनन्त की ओर परवाज भरता जाय। परन्तु उड़ान भरने का अभ्यास करने की बजाय वह खोद-खोद कर धरती में धंसने की चेष्टा करता है। उसके नवजात कोमल पर झर जाते

है और वह अल्प प्राणी बन कर रह जाता है, या अधिक से अधिक रुंड मुँड मानव आकार में धरती पर रेंगता रहता है।

इस अधोगति के मूल कारण को 'मोह' की संज्ञा दी गयी है। मोह का सीधा सीधा अर्थ है—हो कुछ, समझें कुछ और। सर्वत्र व्याप्त सुख को अनदेखी कर मानव मोहवश काल्पनिक सुख की खोज में दुःखी बना रहता है।

मानव एक सामाजिक जीव है। परन्तु वह प्रायः समाज से अलग अपना अस्तित्व स्थापित करने की चेष्टा करता है। अहंकार के कारण मानव ने अपने को अपनी बिरादरी से अलग कर लिया है। इसीलिए वह दुःखी है। समाज में समान दुःख को यानी जिस दुःख से सभी लोग समान रूप से पीड़ित हों उसे दुःख नहीं माना जाता। 'मर्ग अम्बोह जशन दारद', फारसी की इस कहावत में कितनी सचाई है कि सबके साथ मरने में भी एक शान है। रणक्षेत्र में वीर बाकुरे हँसते-हँसते कैसे जान पर खेल जाते है ? मेले ठेलों में धक्के खाने में लोगों को मजा क्यों आता है ? अविवाहित वैवाहिक बंधन में सुख भोगने की लालसा रखते हैं। पति-पत्नी संतान-सुख की चाह करते है। बाल-बच्चों से घर भर गया तब भी होटलों और थियेटरों में जाते है अकेलापन दूर करने के लिए। घरों पर दावतो का प्रबन्ध करते हैं या कॉफी हाउस में घंटों निठल्ले बैठते हैं। बाजार इसीलिए भरते हैं और लोग सजते-संवारते इसीलिए हैं। नग्न या अर्धनग्न इसीलिए बनते है। साधु, ब्रह्मचारी बनकर दर-दर चक्कर काटते इसलिए है। आपस में हँसते बोलते है तो इसलिए और शायद लड़ते झगड़ते भी इसीलिए हैं। फिर लड़ने झगड़ने के लिए टोली और दल बनाते हैं। सम्प्रदाय के नाम पर समाज से कटते हैं। राष्ट्र के नाम पर संसार से कटते हैं। मानव की विचित्र लीला है कि अलगाव में सुख खोजता है और छोटे अलगाव मे सुख न पाकर उससे भी बड़े अलगाव का जाल बिनता है और अपने ही जाल में आप फंसता है और दुःखी होता है। मोहजाल इतना विकराल है कि व्यष्टि से उत्पन्न होकर समष्टि को शोकातुर कर देता है। एक कहानी :

एक राजा था। एक रात उसने स्वप्न-देखा कि ठीक उसकी छाती पर छत से एक सांप लटक रहा है। ज्यतिषियों को बुलाकर स्वप्नफल पूछा। कोई कुछ बता न सका। राजा ने राज्य भर में ढिढौरा पिटवा दिया कि जो सही स्वप्नफल बता सकेगा उसे भरपूर इनाम दिया जायगा। निश्चित दिन कोने-कोने से लोग दरबार की ओर चले। दूर का एक गडरिया भी निकल पड़ा।

गंवार गडरिया जनता तो कुछ था नहीं। केवल तमाशा देखने की लालसा से चला था। पर चलते-चलते सोचने लगा—काश राजा को मैं स्वप्न फल बता सकता, तो निहाल हो जाता। पहाड़ी पगडंडियों से अकेला चल रहा था और जोश में आकर जोर-जोर से चिल्लाये जा रहा था—काश मैं बता सकता—काश मैं बता सकता। बगल की एक पुरानी बाम्बी से एक बूढ़े सांप ने फन फैला कर पूछा, भैया क्या बात है? यों क्यों आसमान सिर पर उठाये जा रहे हो? 'गडरिये ने दरबार की बात कह सुनाई और गिड़गिड़ा कर कहा,' काश मेरी गरीबी दूर हो जाती। सांप ने कहा, 'यह कौन बड़ी बात है। स्वप्नफल अभी बताये देता हूं। बोल क्या दरबार से जो धन दौलत तू पायेगा, उसमें से आधा मुझे दे जायेगा?' गड़िरिया मान गया। सांप ने स्पप्न फल बता दिया।

गडरिया दरबार में पहुँचा। देखा की चारों ओर सन्नाटा छाया है और राजा सिंहासन पर खिन्न बैठा है। गडरिये ने वहीं से गौहार लगाई—जय हो, महाराज की जय हो, यह गरीब बतावै है स्वप्नफल। सारा दरबार अचरज से गवांर की ओर घूरने लगा। गडरिये ने अपनी लाठी चारों ओर फेरी और कहा, 'महाराज! राज बेराज हो रहा है, दरबारी खड्यंत्र रच रहे हैं, राजा प्रजा पर भारी संकट आना ही चाहता है, महाराज समय रहते ही सावधान हो जायें।' राजा को खटका था ही, गडरिये की बात खट से दिल में बैठ गयी। गडरिया सोने चाँदी के सिक्कों की गठरी बाँध घर की ओर चल पड़ा। चलते-चलते सोचने लगा—सोना चाँदी लेकर सांप क्या करेगा। फिर भी बाट जोहता बैठा होगा मुआ। लखते ही लाठी जमा दूंगा और बेखटके घर पर आराम से रहूंगा। गडरिये की खोट से सांप खबरदार था ही, गडरिये के पास पहुँचते-पहुँचते बाम्बी में घुस गया। गडरिये ने लाठी दे मारी पर वह सांप की दुम ही पर पड़ी और वह बच गया।

राजा ने सावधानी जरूर बरती, तिस पर भी खड्यंत्रकारियों ने बलवा कर दिया। राजा ने सारा जोर लगाकर दरबार को बचा लिया। बलवाई शान्त हो गये।

कुछ दिन बाद राजा ने एक और स्वप्न देखा। अबकी बार उसी जगह छत से एक भेड़ी लटक रही थी। गडरिये का बुलाबा हुआ। गडरिया घबड़ाया कि किस बिरते वह अब उस सांप के पास जाये। सोचा, सांप से सवाल करुँ तो वह डस ही लेगा और दरबार न जाऊँ तो राजा सूली पर चढ़ा देगा।

इधर खाई उधर कुंआ । बोला, सांप बड़ा ज्ञानी है और बड़ा दयालु भी। मेरी चिरौरी बेकार न जायेगी । सचमुच वही हुआ । अधिये का वादा लेकर सांप ने गडरिये को स्वप्नफल बता दिया। दरबार में गडरिये की खूब आवा-भगत हुई । खुश-खुश उसने कहा, 'महाराज अबकी बार ऐसी बर्षा होगी कि बारह बरस तक दरबार का बोल-बाला रहेगा और प्रजा निहाल होगी। गडरिये को पहले से अधिक विदाई मिली । वह सीधे साँप की बांबी पर आन पहुँचा । सारा माल सांप के सामने धर एक लम्बी दण्डवत मार दी और अपने पिछले पाप के लिए गिड़गिड़ा कर क्षमा याचना की । सांप ने शान्त मन से कहा,' 'भाई तुम्हारा कोई कसूर नहीं है । तब राज्य भर में छल-कपट चल रहा था, सो तुमने भी मेरे साथ कपट किया। और अब राजा और प्रजा कीना-कपट त्याग कर परमार्थी बन गये हैं, इसलिए तुमने भी चोला बदला और बात रखली।

कहानी काल्पनिक भले ही हो, पर है एकदम यथार्थ। जब गिरता है तब सारा समाज एक साथ गिरता है, सम्हलता भी है एक साथ, और जब उठता है तब भी सारा समाज एक साथ उठता है। यही उपदेश उपनिषदों का है और प्रस्तुत मंत्र इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।

सः पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण—
मस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

शब्द विच्छेद

पर्यागाच्छक्रमकायमव्रणमस्नाविरं=पर्यगात्+शुक्रम्+
अकायम्+अव्रणम्+अस्नाविरम्
शुद्धमपापविद्धम्=शुद्धम्+अपापविद्धम्
कविर्मनीषी=कविः+मनीषी
स्वयम्भूयर्थाथ्यताऽर्थान्=स्वयम्भूः+याथा+तत्यथः+अर्थान्
व्यदयाच्छाश्वतीम्यः=व्यदधात्+शाश्वतीभ्यः

शब्दार्थ

शुक्रम्=(जो) उज्ज्वल, तेजोमय है और
अकायम्=बिन शरीर,
अव्रणम्=बिना घाव,
अस्नाविरम्=बिन नस
शुद्धम्=बिना मल और
अपापविद्धम्=बिन कलंक है और
कविः=भूत भविष्य सब कुछ देखते हुए,
मनीषी=सब कुछ का जानकार बन कर
परिभूः=सब पर व्यापा हुए

स्वयम्भूः=स्वयं अजन्मा होकर
शाश्वतीभ्यः=अनादि काल से
समाभ्यः=काल से
याथातथ्यतः=जैसे को तैसे
अर्थान्=प्रारब्ध फल
व्यदधात्=देता आया है
(ऐसे परब्रह्म परमात्मा को)
सः पर्यगात्=वह पिछले दो मंत्रों में वर्णित तत्व को प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ

जो व्यक्ति पिछले दो मंत्रों के वर्णन के अनुसार भीतर बाहर और अपने पराये में एकात्मा का दर्शन करता है वह उस परब्रह्म परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है जो मात्र तेजपुंज है, जिसके न कोई शरीर है, न कोई घाव है, और न किसी प्रकार का स्नायुमंडल है, फिर भी जो सर्वज्ञ है, सर्वद्रष्टा है, सब पर व्याप्त है और स्वयं अजन्मा होते हुए सबके जनन मरण का नियन्ता है और सब का उन-उन के प्रारब्ध कर्मों का फल प्रदाता बनकर अनादिकाल से विद्यमान है और अनंत काल तक विद्यमान रहेगा।

विशेषार्थ

पिछले दोनों मंत्रों के अनुसार अपने को सबके समान और सबको अपने ही समान जानते मानते हुए एवम् तदनुसार आचरण करते हुए मोह शोकादि से मुक्त हो जाने पर मानव जिस अवस्था को प्राप्त होता है, इस मंत्र में उसी का वर्णन प्रस्तुत किया गया है ।

सभी जानते हैं कि मानव के दो रूप हैं, एक शरीर है और दूसरा विचार । शरीर मानव का बाहरी रूप है और शरीर जिन विचारों से प्रेरित होता है, वह है उसका भीतरी रूप । इस मंत्र में विशेषतया उसी विचार-रूपी शरीर का वर्णन है । पिछले दोनों मंत्रों को आत्मसात् कर आचरणशील हो जाने पर शरीर एक उपकरण मात्र रह जाता है । काला है कि गोरा, मोटा है कि दुबला, कौन भाषा बोलता है, कौन पोशाक पहनता है, कहां रहता है, क्या खाता पीता है, कैसे उठता-बैठता है, किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में ऐसी सभी बातों की चर्चा करना प्राय: निरर्थक है । विचार और व्यवहार ही मानव का असली रूप है । इस कसौटी की पुष्टि भगवद्गीता से भी होती है—"स्थितधी: किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।" अर्जुन के इस प्रश्न पर कि स्थिरबुद्धि व्यक्ति की बोल-चाल कैसी होती है ? श्री कृष्ण भगवान् इस बाह्य रूप की एकदम अवहेलना करते हुए विचार के महत्व को जताते और आत्मतुष्टि की बात समझाते है। एक दूसरी जगह—"अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे", कह कर श्रीकृष्ण ने बाह्याचरण पर ध्यान देने को मूर्खता की संज्ञा दी है । अत: यहां मंत्र की शब्दावली पर ध्यान देना ही अधिक उचित होगा ।

मंत्रोक्त "अकायम्" अर्थात् शरीररहित शब्द ही से आरम्भ करें। जहां शरीर वहाँ नाना विकार । हाड, माँस, स्नायुमंडल, रोग पीड़ा इत्यादि शरीर के साथ लगे हुए हैं । नैसर्गिक नवरंध्र मल, मूत्र, फोडा, फुन्सी, मवाद आदि के स्रोत हैं । इसलिए इस ओर ध्यान देने की जरूरत ही नहीं । मानव के लिए मन ही मुख्य है और मन हो मलहीन । उस मन का साक्षी स्वयं मन ही है । उस मन को परखने की योग्यता उसी कोटि के व्यक्तित्व में ही सकती है । ऐसा व्यक्ति सबके समान सामान्य शारीरिक व्यापार करते हुए, समाज में सब में घुलते-मिलते हुए भी सबसे एकदम भिन्न है। साधारण शरीर से युक्त होते हुए भी वह एक तेजपुंज मात्र है। मंत्र में शब्द "शुक्रम्" इसी गुण का द्योतक है। सूर्य के समान सबको प्रकाश

प्रदान करता है। जिस अंधकूप में रवि भी न पहुंच पावे, उस तक पहुंच सकने वाला कवि है। वह अपने मन को वश में रख कर वह सबका मन रखता है। और जिसका हक उसको वह पहुंचाता है— याथातथ्यतः व्यदधात्"। सदा वह वही करता है और सदा करता रहेगा। लोग क्या सोचते हैं, क्या करते हैं और उसके साथ क्या व्यवहार करते हैं, इससे वह सरोकार नहीं रखता। वह अपने आपमें गहरे पैठता है--'स्वयं भूः" है वह। पदवी लाद कर किसी ने उसे बड़ा नहीं बनाया है। वह स्वयं इतना बड़ा दिल पाया है कि वह स्वयं सब पर व्यापे हुए हैं, सारे चराचर जगत पर—"पैरिभूः"।

शंका उठेगी – ये तो सर्वशक्तिमान भगवान के गुण हैं। तो क्या यह शरीरधारी मानव भगवान् बन गया ? हां, वह भगवान् बन गया है। आत्मवान ही तो परमात्मा बनेगा। देव दानव या पेड़ पहाड़ को नहीं, केवल मानव ही को यह मर्यादा प्राप्त है। ऐसा मानव ही—नर हो अथवा नारी—समाज का उद्धार करता है और नया समाज रच कर संसार में सिरजनहार का प्रतिनिधित्व करता है।

इसके विपरीत वह भी तो मनुष्य है जो पशु से भी गया बीता है। माया-मोह में फंसकर खूनखराबा करता है और प्रत्यक्ष आदमखोर बन जाता है। कम से कम हरामखोर तो होता ही है। समाज को शोकातुर करता है। संसार भर में त्राहि-त्राहि मचा देता है। ऐसे ही अवसर पर यदा-कदा मंत्रोक्त स्वर्गीय पुरुष नरसिंह भगवान् का रूप धारण करता है और आतताई का अन्त कर देता है।

हैं तो सभी मानव, किन्तु क्या कारण है कि कुछ तो सुधर कर देवों से भी आगे बढ़ जाते हैं और कुछ बिगड़ कर दानव से भी गिर जाते हैं। घबड़ाइए नहीं, अगले मंत्र में इसी खुटके को मिटाने ली चेष्टा की गयी है।

---

(९)

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रताः ।।

शब्दविच्छेद

येऽविद्यामुपासते=ये+अविद्याम्+उपासते

शब्दान्वय

ये अविद्याम् उपासते ते अन्धम् तमः प्रविशन्ति ।
ये विद्यायाम् रताः ते ततः उ भूय इव तमः प्रविशन्ति ।।

शब्दार्थ

ये=जो मनुष्य
अविद्याम्=अज्ञान को
उपासते=सेवते हैं
ते=वे
अन्धम् तम.=अज्ञानरूपी अन्धकार में
प्रविशन्ति=फंस जाते हैं (और)

ये=जो
विद्यायाम् रता:=पुस्तकी विद्या में लगे रहते हैं,
ते=वे
तत: उ=उस से भी अधिक
तमः=अंधकार में
भूयः इव=बारम्बार
प्रविशन्ति=फंसते जाते हैं ।

भावार्थ

जो अबोध जन अनात्मा भूत प्रेत आदि को मानते हैं वे सदा अंधकार में फंसे ही रहते हैं, परन्तु जो विद्वान प्रत्यक्ष जगत ही को सब कुछ मान बैठते हैं वे उन अबोध जनों से भी अधिक घोर अंधकार में फंसते जाते हैं ।

विशेषार्थ

उपनिषदों का अवतरण मात्र मानव के लिए हुआ है, यह बात आरम्भ में ही स्पष्ट कर दी गयी है। ईशावास्योपनिषद में मानव के लिए सर्व प्रथम "विधि", "निषेध" इन्हीं दो बातों की व्यवस्था है—"भुंजीथाः" "मागृधाः", उपभोग करो, लालच न करो।

मानव दो प्रकार के होते हैं। कुछ जीने के लिए खाते हैं तो कुछ खाने के लिए जीते हैं। खाने की सीमा है। अधिक खावेंगे तो अजीर्ण होगा, बीमार पड़ेंगे। परन्तु खाने का लोभ असीम है। लोभ जो चला तो थमने का नाम नहीं लेता। लोभ से मोह, मोह से मद, मत्सर, लूट-पाट, दंगा-फसाद, कतल गारत, जंग और जनसंहार।

प्रस्तुत मंत्र कहता है कि इस सारी अंधेरगरदी का मूल कारण है विद्या।

पढ़नेवाले और सुनने वाले वावेला मचायेंगे—विद्या पर यह घोर लांछन! लेखक पर मूर्खता की बौछार होगी। शोर मचायेंगे—जीभ खींच लो, हाथ काट दो, गला दबोच डालो। कुछ कहेंगे, कुछ लिखेंगे—भाष्यकार को गिरफ्तार करो, किताब जब्त करो। अभी-अभी की बात है। अखबारों में आया था। किसी बाहरी देश में भगवद्गीता पर रोक लगी थी। कल की बात है, भारत वर्ष में रामायण पर महाभारत रच रहा था। कोई कुछ कहें, कोई कुछ करें, हम तो खतावार एकदम नहीं। भाष्यकार को मुजरिम ठहराना निरी मूर्खता है। हम तो कोई भाष्यकार भी नहीं है। भाषाभाषी हैं और न किसी भाषा के जानकार। केवल रहे हैं जंग-आजादी के सिपाही। देश आजाद हो गया। आजाद हिन्द में एकतंत्र का नहीं, लोकतंत्र का राज है। मगर भारत का लोकतंत्र एक महान् नदी के समान है, जिसके दो किनारे आमने-सामने खड़े हैं, पर कभी आपस में मिलते नहीं। एक किनारे पर लोक (लोग) हैं और दूसरे पर तंत्र। दोनों के बीच पैसा पानी बन कर बहता रहता है। बहते नोट मानो मछली हैं कि एक तट पर वोटर कांटा लटकाये बैठा है तो दूसरे तट पर तंत्र जाल फैलाये खड़ा है। लोक में वोट है और तन्त्र में नोट। लोगों के हाथ में एक वोट है, मगर तंत्र में डबल—नोट का बोलबाला है—दफ्तरों में क्लर्क के नोट का और बाजार में कागज के नोट का। बाजार के नोट के कारण

किताब छपेगी नहीं और दफ्तर के नोट की बदौलत किताब चलेगी नहीं। इस प्रकार दो हजार वर्ष पुराने महाराज भर्तृहरि का कथन वर्तमान युग पर ज्यों का त्यों चस्पाँ होता है—"जीर्णमंगे सुभाषितम्"। भली बात किसी को भाती नहीं। न सही, जो कहना हो कह गुजरिए और बन पड़े तो कर गुजरिए। संभव है, कोई दमदार काम करे, भले ही हम बेदम हो जायें। कोई रहे या न रहे, विद्या तो सदा विद्यमान रहेगी और उपनिषदों की छाप कभी नहीं मिटेगी।

उपनिषद में विद्या के दो पहलू बताये गये हैं: एक विद्या, दूसरा अविद्या। मानो, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उल्टा हो या सुल्टा, खरा सिक्का खरा ही है और खोटा सिक्का खोटा ही। परन्तु यदि खोटे पर रोक न लगे तो निश्चय ही खरे को कोई पूछेगा नहीं। परिणाम यही होगा कि खोट का बोलबाला होगा। खोटे जगत में धन लक्ष्मी हो अथवा विद्यादेवी, दोनों ही समाज को विनाश की ओर ले जायेंगी। प्रस्तुत मंत्र के शब्दों में "विद्यायाम् रता:", अर्थात् वे लोग जो विद्वान और विशेषज्ञ कहाते हैं वे "अविद जन" से भी अधिक घोर अंधकार में फंसे हुए हैं। दूसरी ओर देश के सभी विद्या-विद्, कुलपति, मंत्री, मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति, सभी एक स्वर में कहते हैं कि हमारी शिक्षा प्रणाली गलत है। जब गलत मानते हो तो गलत शिक्षा को चालू रखते हुए देश को गारत क्यों कर रहे हो? निहित स्वार्थ ही इसका मूल कारण है। इस लोकराज मे भी सरिता सरस्वती के दोनों तटों पर दो अलग-अलग प्रकार की शिक्षा प्रणाली चालू है। जनता के लिए एक प्रकार की शिक्षा और उसी जनता की सरकार चलाने वालों की शिक्षा-दीक्षा दूसरे प्रकार की। तिस पर तुर्रा यह कि आजादी के बीस तीस साल बाद केवल तीस प्रतिशत इस बेसुरी विद्या की हवा पासके हैं। शेष सत्तर प्रतिशत के लिए "काला आखर भैंस बराबर"। इस खोट विद्या के अल्पसंख्यक मालिकों ने अपने को "बुद्धिजीवी" की उपाधि देकर नाम और दाम कमाया है और उससे वंचित बहुसंख्यक जन को "कष्टजीवी" के नाम से बदनाम कर भिखारी बना रक्खा है, मानो इन अभागों को भगवान ने बुद्धि दी ही नहीं है।

साधारणतया मानव मात्र में बुद्धि समान रूप में पायी जाती है। यह भगवान की देन है। परन्तु विद्या-दान में इन्सान कंजूसी करता है और पक्ष-पात बरतता है। याद रहे, हम यहां विद्या अविद्या के गूढ़ार्थ की चर्चा नहीं

कर रहे हैं। केवल प्रचलित प्रणाली की विवेचना कर रहे हैं। सच्ची बात यह है कि बुद्धि पैर है जो सबको प्राप्त है और विद्या उस पैर की जूती मात्र है जो मुट्ठी भर लोग ही पहिन रखे हैं। अपढ़ बिना जूती के काँटा कंकड़ झेलते हुए समाज के लिए सामग्री जुटा रहा है। फिर भी अपढ़ की पीठ है और पढ़े-लिखे की जूती। और पेट है कि कलम की कुरेद से पीठ से चिपकी जा रही है। यों कहिए कि कष्टजीवी का सत्व खोया जा रहा है और बुद्धिजीवी का सिर फूल जा रहा है। तथाकथित बुद्धिजीवी कष्टजीवी को कोल्हू में पेर-पेर कर सारा तेल निकाल लेता है और बुद्धिमान को भी तेजविहीन बना कर छोड़ देता है।

जनवाद की सरकार हो या पूंजीवाद के कारोबार, उनका सारा दारोमदार अच्छे-खासे शिक्षित जन पर ही होता है। बिना इनके सहारे के उनका एक न चले। जितने अनाचार अत्याचार होते हैं सब इन ही शिक्षितजन के द्वारा किये कराये जाते हैं। अच्छे उत्साही युवक भी इस काजल की कोठरी में मुंह काला कर लेते हैं। कुछ एक बुरा मानते हुए भी बुराई करते जाते हैं। एक और श्रेणी है पंडा, पुजारी, गुरु, कथावाचक, प्रोफेसरों और डाक्टरों की जो खच्चर बन कर भाड़े पर पोथों का बोझ ढोते फिरते हैं। एक अलग श्रेणी भले मानसों की और है जो किसी की बुराई मे नहीं पड़ते, परन्तु औरों की सारी बुराई देखते और सहते भी रहते है। वास्तव में ये भी उन आतताइयों के मूक-सहायक हैं। बुरे तो बुरे ही हैं और जाहर हैं, परन्तु जो कहावें तो भले और बुराई का प्रतीकार न करें, ये उत बुरों से भी बुरे है। बुरे सरे बाजार सीनाजोरी करें और भले चुप मार कर घर में घुस बैठें, यह कैसी विडम्बना है? सच्ची बात यह है कि बुरों की सीनाजोरी से नहीं, बल्कि भलों के दब्बू-पन से समाज में खराबी जोर पकड़ती है। इतिहास साक्षी है कि एक सच्चा साहस करके सामने आ गया और सैकड़ों झूठों के पैर उखड़ गये।

अब मंत्र के असली मंतव्य पर आइए। विद्या, अविद्या को विद्वानों ने धर्म, कर्म, ज्ञान, ध्यान आदि, क्या-क्या नाम दे रखे हैं। ज्ञान ध्यान के चक्कर में न पड़ कर आँखों के सामने जो हो रहा है उसे देखिए। स्पष्ट दिखाई देगा कि अपढ़ अज्ञानी अंधकार में हैं, पर ज्ञानी और विद्वानों ने ही यह सारा अंधेर मचा रखा है। मंत्र में कहा भी है कि पढ़े-लिखे लोग अपढ़ों से भी अधिक अन्धकार में फंसे हुए हैं। और वे ही समाज का नेतृत्व करते हैं। इस प्रकार

विद्या और अविद्या दोनों ही अनर्थकारी हैं। ऐसी खोटी विद्या से समाज कभी संभल न सकेगा। आज भारत में सभी विद्याविद् यही रट लगा रखे हैं, फिर भी उस खोटी विद्या की खूंटी को छोड़ नही पाते। अपढ़ की आखों में थोड़ी बहुत धुंध मात्र है। वे जैसे तैसे मेहनत-मजदूरी और खेती-वाड़ी से अपना काम चलाये जा रहे हैं। मगर उन्हीं के बच्चे पढ़-लिख कर ग्रेजुएट, डाक्टर, इंजीनियर बनकर भी बेकार है और समाज पर बोझ बने हुए है। आज का अपढ काणा मात्र है, परन्तु पढ़ा-लिखा एकदम अन्धा है। जो शिक्षितजन कमाई धमाई में लगे भी हैं वे भी कोल्हू के बैल की भांति आंखो पर पट्टी बांध रखे हैं। जीवन भर लिखे जा रहे हैं, बोले जा रहे है: कारोवार किये जा रहे है, राजकाज चलाये जा रहे हैं, परन्तु वास्तव मे कौल्हू के चक्कर काट-काट कर समझ रहे हैं कि हम बहुत चले हैं। ज्यों ही कंधे से जुआ उतरता है और आंखों पर से पट्टी उतारती है त्योंही पाते हैं कि वे जहां से चले थे वहीं है और अपढ़ ही उनसे कहीं अधिक निश्चित हैं। अपढ़ को संतोष है कि भरसक मेहनत की, और जो भाग्य में जो बदा था पाया भी। मगर हमारे विद्वान को कुढ़न खाये जा रहा है। स्पष्ट है कि आज की पढ़ाई एकदम अव्यवहारिक है, निरर्थक है, निकम्मी है। प्रस्तुत मंत्र उस पर ठीक-ठीक चस्पाँ होता हैं। आज की विद्या को विद्या का नाम देना ही गलत है।

तो क्या विद्या विनाशकारी है ? क्या अपढ़ बने रहने से ही दुःख से दूर रहेगा ? नही, दोनों ही प्रकार की भावना भ्रामयिक है। अगले मंत्र से यह भ्रम टूटेगा, अंधकार छटेगा और विद्या, अविद्या के औचित्य का आभास मिलेगा।

— — —

[१०]

अन्यदेवाऽहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया

इति शुश्रुम धीराणं ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥

शब्दविच्छेद

अन्यदेवाहुविद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया=अन्यत्+एवं+आहु:+
विद्यया+अन्यत्+आहुः+अविद्यया

शब्दान्वय

विद्यया अन्यत् आहुः अविद्यया अन्यत् एव आहुः ।

इति धीराणाम् शुश्रुम ये नः तत् विचचक्षिरे ॥

शब्दार्थ

अविद्यया=अविद्यया से
आहु:=बताया जाता है (और)
अन्यत् एव=कुछ और ही फल
धीराणाम्=धीर धीमान् पूरुषों को
शुश्रुम=कहते सुना है
नः=हमें
विचचक्षिरे=खूब खोल कर समझाया है ।
अन्यत्=एक प्रकार का फल
विद्यया=विद्या के सेवन से
आहु:=बताया जाता है
इति=इस प्रकार
ये=जिन्होंने
तत्=उस विषय को

भावार्थ

जिन धीर धीमानों ने इस विषय को विस्तार से खूब खोल-खोल कर समझाया है उन से हमने यही सुना है कि विद्या का फल और है, और अविद्या का फल कुछ और होता है ।

विशेषार्थ

पिछले मंत्र में कहा गया था कि विद्या में रम जायें अथवा अविद्या में डूबे रहें, दोनों का परिणाम अंधकार है और पहला वर्ग दूसरे से कहीं अधिक गहरे धंस जाता है। इस विद्या को कुविद्या कहना चाहिए। हमने तो यहां तक कह दिया कि इस प्रकार की विद्या विध्वंसकारी है।

प्रस्तुत मंत्र कुछ विपरीत दिशा का संकेत देता है। पिछला मंत्र नकारात्मकथा और प्रस्तुत मंत्र सकारात्मक है। सरसरी नजर से देखने पर यही लगता है कि मंत्र में कोई विशेष बात नहीं कही गयी है। पिछले मंत्र का उल्था मात्र है। किसी ने कहा, किसी ने सुना, किसी ने मान लिया और बात भी वही कही गयी जो पीछे कही गयी थी। शायद इसीलिए सामान्यतया सभी भाष्यकारों ने हेर फेर कर उसी ज्ञान, कर्म, श्राद्ध, भक्ति और भगवान की चर्चा चलायी है। बदल फेर के साथ एक ही बात दोहराई जाय तो वह मंत्र ही कहाँ रहा। ईशापास्योपनिषद पर ऐसा आरोप लगे, यह घोर अन्याय है।

मंत्र के शब्दों पर ध्यानपूर्वक विचारने पर पता लगेगा कि मंत्र में एक बड़े मार्के की बात कही गयी है। शब्द "धीर" (धीराणाम्) मंत्र की धुरी है। उसी धुरी की मात्र परिधि में मंत्र के सारे शब्द घूमते है। यदि यह एक शब्द मंत्र में न होता तो शेष सारे शब्द बेकार पड़ जाते। न कहने वालों का कोई महत्व होता और न सुनने वालों का, और तब उन्हें मानने वाला भी बिरला ही होता। धीर बनने के लिए घोर साधना करनी पड़ती है। स्वार्थ धीरता का घोर शत्रु है। भर्तृहरि के शब्दों में धीर पुरुष को निंदा स्तुति से परे होना पड़ता है। मान अपमान को मन से मिटाना पड़ता है। धन अधिकार का तिरस्कार करना पड़ता है। जान पर आ बने तब भी अडिग रहना पड़ता है। और तभी वह सत्य की स्थापना कर सकता है।

समाज में कहने वालों की कमी नहीं। सुनने वाले भी खूब जुट जाते हैं। कभी-कभी, कहीं-कहीं, कहने सुनने वाले किराये पर लाये जाते हैं। भाड़े पर भीषण भाषण होते हैं। तालियां बजती हैं तो धरती कांप उठती है। नारे लगते है तो आसमान में सनसनी फैल जाती है। हुड़दंग होता है। भगदड़ मच जाती है। वक्ता चमड़ी बचाकर खिड़की की राह भाग खड़े होते हैं। इस प्रकार की वाहियात अंधेरगरदी को न विद्या कह सकते हैं और न अविद्या। प्रस्तुत मंत्र में इस विधि का पूर्णरूपेण खण्डन किया गया है।

मंत्रोक्त "धीर" एवम् "विचक्षण" ये दो शब्द एक दूसरा ही नक्शा पेश करते हैं। यहां पर कहने वालों अथवा सुनने वालों की ओर से किसी प्रकार के उतावलेपन का प्रदर्शन नहीं होता। वक्ता अपने विचार प्रस्तुत करता है। श्रोता ध्यानपूर्वक सुनते हैं। इस प्रकार निर्भीक वक्ता और निर्भय श्रोता के बीच तर्क-वितर्क चलता है। श्रोता वक्ता के विचारों पर आपत्ति उठाते हैं। वक्ता एक-एक का उत्तर देता है। इस प्रकार परस्पर वाद-विवाद चलता ही जाता है। वक्ता या श्रोता, कोई धीरज नहीं खोता। दोनों पक्ष दृढ़तापूर्वक मोर्चे पर डटे रहते हैं। गाली-गलौज या लाठी-गोली से नहीं, बल्कि बुद्धिबल का मुकाबला चलता है। एक दूसरे की युक्तियों से शब्द जाल की धज्जियां उड़ती जाती हैं। समस्या के किसी पहलू को अछूता नहीं छोड़ा जाता। परख-परख कर एक-एक दाने को भूसे से जुदा किया जाता है। माठे को मथ-मथ कर मक्खन निकाला जाता है। एक एक करके मतभेद मिटते जाते हैं। वक्ता और श्रोताओं की दरमियानी दीवारें धराशायी होती जाती हैं और मतभेद की खाई भरती जाती है। अल्पमत बहुमत का झमेला ओझल हो जाता है। सर्व-सम्मति से समस्या का समाधान हो जाता है।

इस मंत्र में लोकमत को शिक्षित करने की विधि बतायी गयी है। लोकराज में समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए इस प्रकार की शिक्षा का इतना बड़ा महत्व है। इसी शिक्षा को "विद्या" की संज्ञा दी गयी है। इसमें विद्यालयों में विद्यार्थियों को अपनी शंकाओं को मिटाने की खुली आजादी देने का विधान है।

प्राचीन काल से समाज में व्यक्ति किसी न किसी रूप में विद्या अथवा सीख से विकसित होता आया है। वर्तमान समाज विद्या के महत्व को खूब जानता है। माता पिता अपने बच्चों को विद्या से विभूषित कर काम के लायक बनाने की उत्कट इच्छा रखते हैं। सरकार सभी बच्चों के लिए अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध करने की घोषणा करती है। परन्तु इस मंत्र में बाल-विद्या की चर्चा नहीं है। समाज की सुव्यवस्था के सम्बन्ध में सही निष्कर्ष पर पहुंचने की चर्चा है। ऐसा निर्णय परिपक्व बुद्धि वाले प्रौढ़ ही कर सकते हैं। लोकमत की शिक्षा प्रौढ़ों का विषय है। दूसरे शब्दों में उपनिषदों ने प्रौढ़-शिक्षा को इतना अधिक महत्व दे रखा है। बौद्धिक परिपक्वता के बिना भौतिक पुरोगम असम्भव है। अपढ़ और अपरिपक्व प्रौढ़ों की संख्या जितनी अधिक होगी समाज की उतनी ही अधिक दुर्गति होगी। एक ओर ऊपर

अधिकारसम्पन्न वर्ग अधिक अनर्गल बनता जायेगा और दूसरी ओर नीचे युवावर्ग उससे भी बढ़कर अल्हड़ ।

ऐसी ही परिस्थिति को लक्ष्य में रखते हुए मंत्र में धीमानों के प्रति धीरतापूर्वक कर्तव्यपरायणता का संकेत है ।

उपनिषदकारों की महानता देखिए कि वे जिस महान उद्देश्य का उपदेश देते हैं उसका श्रेय आप स्वयं नहीं लेते । आजकल साहित्यिक चोरी खूब होती है। आजकल लोग किसी से लिखवाते हैं और नाम अपना देते हैं । लेखक भी कहीं सुनी या पढ़ी हुई बात को इस तरह लिखेंगे कि मानो स्वयं उनके अन्तस्थ से वे विचार उठे हैं। इससे एकदम विपरीत उपनिषदकार कहते हैं कि धीर धीमानों ने उन्हें खोल-खोल कर समझाया है और उन्होंने (श्रोता) स्वयं उनके (वक्ता के) श्री मुख से सुना है । इस प्रकार सुनने का अभिप्राय यहाँ उस शास्त्रार्थ में उपस्थित रहना, भाग लेना तथा शंका समाधान के बाद सर्वसम्मति से स्वीकार कर लेना भी सम्मिलित है । सुनी सुनाई बात को कोई इतने स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करने का साहस नहीं कर सकता कि विद्या से क्या फल मिलता है और अविद्या से क्या लाभ । मतलब यह कि पिछले मंत्र के विपरीत यहाँ पर विद्या तथा अविद्या दोनों को लाभकारी घोषित किया गया है । मंत्र की शब्दावली से यह भी स्पष्ट है कि विद्या धन की पुनस्थापना के लिए केवल धीमान और विद्वान होना ही पर्याप्त नही है, वरन् उसके साथ अदम्य उत्साह तथा साहस भी अनिवार्य है । तभी वह सभी अड़चनों से निपट कर, किसी से प्रसन्न अथवा अप्रसन्न होने की परवाह न कर सत्य की स्थापना कर सकेगा ।

इतनी सारी चर्चा के बाद भी विद्या और अविद्या की परिभाषा पर कोई प्रकाश नहीं पड़ा है । इसका स्पष्टीकरण अगले मंत्र में होगा ।

विद्यां चऽविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

शब्दविच्छेद

चऽविद्यां=च+अविद्यां
यस्तद्=यः+तत्
वेदोभयं=वेद+उभयं
विद्ययाऽमृतमश्नुते=विद्यया+अमृतम्+अश्नुते ।

शब्दान्वय

यः विद्यां च अविद्यां च तत् उभयं सह वेद ।
सः अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते ॥

शब्दार्थ

यः=जो मनुष्य
विद्यां च=विद्या और
अविद्यां च=अविद्या
तत् उभयं=उन दोनों को
सह वेद=साथ-साथ जान ले,
सः=वह
अविद्यया=अविद्या से
मृत्युं तीर्त्वा=मृत्यु को पार कर
विद्यया=विद्या से
अमृतम्=अमृत को
अश्नुते=पान करता है ।

भावार्थ

जो मनुष्य विद्या और अविद्या में से दोनों के तत्वों को एक साथ भली भाँति जान लेता है, वह अविद्या द्वारा मृत्यु को पार कर विद्या से अमृतत्व को प्राप्त होता है ।

विशेषार्थ

पिछले मंत्र में बताया गया कि विद्या, अविद्या अलग-अलग वस्तु हैं और उनका फल भी अलग-अलग है। यह भी कहा गया है कि धीर धीमानों ने दोनों के मर्म को खोल कर समझा दिया है। परन्तु विद्या और अविद्या में क्या अन्तर है और उनके क्या भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं, इसकी ओर कोई संकेत उसमें नहीं था। प्रस्तुत मंत्र में इसी अभाव को दूर किया गया है।

यहां कहा गया है कि विद्या, अविद्या भिन्न-भिन्न होते हुए भी वे परस्पर विरोधी नहीं है, वरन् एक दूसरे के पूरक हैं। अत: दोनों ही सेवनीय हैं—"उभयं सह"। यद्यपि यहां भी विद्या क्या है और अविद्या किसे कहते हैं, इसे स्पष्ट नहीं किया गया है, तथापि मंत्र के द्वितीय चरण में विद्या, अविद्या के परिणामों का वर्णन है। कहा गया है कि अविद्या से मृत्यु को पार कर जायेंगे—"मृत्युं तीर्त्वा"। और आगे कहा गया है कि विद्या द्वारा अमृतपान करेंगे —"अमृतमश्नुते।"

सामान्य दृष्टि से देखने पर मन में संदेह का उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि जो अविद्या अन्धकार का कारण है वही मृत्यु से तार कर अमरत्व में कैसे लेजायगी ? संदेह के मिटने के लिए हमें पिछले मंत्रों में जाना होगा। "असुर्या नाम ते लोका:" वाले तीसरे मंत्र में अन्धकार और मृत्यु की बात कही गयी है, किन्तु उसमें अमरत्व का शब्द नही हैं। प्रस्तुत मंत्र में मृत्यु के साथ अमरत्व का स्पष्ट संकेत है। वहां असुर मर जाता है—"प्रेत्य" परन्तु यहां मानव "मृत्युं तीर्त्वा", मृत्यु पर विजय पाकर अमरत्व को भी प्राप्त हो जाता है। जहां अमरत्व की प्राप्ति हुई वहीं वह मानव से "देव" बन गया। इस प्रकार मानवजन्म में आने के बाद मानव, मानव मात्र न रह कर वह या तो देव होगा या दानव, भले ही मात्रा में कमी वेशी रहे। और यह सब होता है विद्या, अविद्या के द्वारा।

विद्या, अविद्या पर बाद में विचार करेंगे। पहले हम यह देखें कि जहां दानव फंस जाता है वहाँ मानव तर कैसे जाता है ? दोनों भाई-भाई, एक देव कैसे हुआ और दूसरा दानव कैसे ? समाधान सरल है। जो उपनिषदों की शिक्षा पर चलेगा वह देव बनेगा, और जो उसके विपरीत आचरण करेगा वह दानव बनेगा। उपनिषद की यह शिक्षा कोई जटिल विषय नहीं है कि जन्म

जन्मान्त तक साधना करना पड़े । "ईशावास्यमिदं सर्व" और "कुर्वन्नेवेहि कर्माणि" इन दो पहले दूसरे मंत्रों में उपनिषद की सारी शिक्षा समाई हुई है। उनमें दो ही बातें कही गयी हैं—"खाओ और काम करो।" आवश्यकता भर खाने की "छूट" है और शक्ति भर काम करने की "शर्त" है । उपनिषद की भाषा में यह "विधि" है, जिसमें अधिकार और कर्तव्य दोनों शामिल हैं। खाने के नाम पर कमाने-जमाने का लालच न करो और काम करने में अलसाओ नहीं, यही उपनिषद का "निषेध" है । इन साधारण आदेशों पर जो आचरण करेगा वह अवश्यमेव देव बन जायेगा । प्रथम दो मंत्रों में यदि देव को देख लिया तो दानव को खोजने में दूर जाने की जरूरत नहीं पड़ेगी । तीसरे ही मंत्र "असूर्या नाम तेलोका", में दानव की परिभाषा प्रस्तुत की गयी है। दूसरे मंत्र में निश्चित रूप से कह दिया गया है—"न अन्यथा अस्ति," सदा कर्मरत रहे बिना निस्तार का कोई और रास्ता नहीं है । इस प्रकार मानव के लिए कर्म की प्रधानता मानी गयी है । करो और किये जाओ ।

कर्म की प्रधानता के साथ कार्यकुशलता की अनिवार्यता सिद्ध होती है । गीता का उद्घोष—"योगः कर्मसु कौशलम्" इसी सिद्धान्त की पुष्टि करता है । जिस कार्य को लो, तन मन से लग जाओ । कुशलता के सीधे-सादे अर्थ हैं कार्य उपयोगी हो शीघ्र हो और सुन्दर हो । कुशलता की सिद्धि के लिए शिक्षा की आवश्यकता है । इसी को विद्या का एक पहलू बताया गया है ।

पिछले तीनों मंत्रों (२, १०, ११) में विद्या, अविद्या को अलग-अलग होते हुए भी आवश्यकीय कहा गया है। परन्तु इसी विद्या अविद्या को नवें मंत्र में तिरस्कृत माना गया है । समझाने में सुविधा हो, इसलिए इस तिरस्कृत विद्या को "कुविद्या" कहना उचित होगा । इस कुविद्या को ही नवें मंत्र के संदर्भ में खोटी विद्या कहा गया है। मानव को अपढ़ और अशिक्षित रखना खोट कार्य है ही । साथ ही शिक्षित विद्वान, विद्याविद् विशेषज्ञ आदि का उस खोट विद्या का प्रचार और प्रसारण करना सामूहिक रूप में समाज के लिए घातक है । कुविद्या आसुरी प्रवृत्ति का द्योतक है । अतः सदैव वर्ज-नीय है ।

अब विद्या, अविद्या का निरूपण । जैसे आरम्भ में ही कहा जा चुका है, मंत्र में विद्या अविद्या के फल को बताया गया है, परन्तु पेड़-पात के रंग-रूप का अता-पता नहीं । कोई बात नहीं, फल का विश्लेषण करके पेड़ का पता

लगाने की चेप्टा करेगे। मत्रोक्त "अमृतपान" बाद मे करेगे, पहले "मृत्यु तीर्त्वा" मृत्यु को जीतने की बात सोचेंगे। मानव को जीने के लिए खाना, खाने के लिए काम करना और कार्य कुशलता के लिए विद्या अनिवार्य है। निष्कर्ष यही निकला कि जीने की विद्या का नाम अविद्या है—'अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा"। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए अपनी-अपनी योग्यता और अभिरुचि के अनुसार जो कुछ सीखा सिखाया जाता है, पढ़ा पढ़ाया जाता है, लिखा लिखाया जाता है और किया कराया जाता है, वह सब "अविद्या" की परिधि में आता है। अविद्या भी विद्या है और समाज के काम के लिए है। इस प्रकार अविद्या सामाजिक है, व्यक्तिगत नहीं। अतः समाज के सभी व्यक्ति इस अविद्या रूपी विद्या के अधिकारी है। उनका यह जन्मसिद्ध अधिकार है। यह हुई अविद्या की बात।

तब विद्या क्या है? यदि मृत्यु को पकड़ कर अविद्या को खोज निकाला है, तो आइए, 'अमृत कलश' को हथेली में लेकर अमरबेल अर्थात् अमरवल्ली "विद्या" को ढूंढ़ निकालें।

"विद्यया अमृतमश्नुते" विद्या द्वारा अमृतपान का सौभाग्य प्राप्त होता है। अविद्या द्वारा मुक्ति अर्थात् खान-पान का प्रबन्ध हो जाता है। शरीर के अवयवों से हम खाते-पीते पचाते हैं। क्या अमृत का सेवन भी शरीर द्वारा हो सकता है? अमृत कोई दाना पानी नहीं कि चुल्लू में भरलें, या दांतों से चबा-कर आंतो से से पचा डालें। अमृत "इदम्" की परिधि से बाहर है। "अदः" के परिवेश में ही उसका अनुभव किया जा सकता है। वह आत्मा जो हम सब में विद्यमान है, वह परातत्त्व परमात्मा का अंश है। अतः कदाचित् अमृत का सेवन आत्मा द्वारा ही होगा।

मानलें कि आत्मा अमृतपान से तृप्त होगी। परन्तु साधारण मानव को वह आत्मदर्शन कैसे हो, जो सिद्ध पुरुषों के लिए भी अनेक जन्मों के बाद भी असाध्य माना गया है—"यततामपि सिद्धानाम् कश्चित् माम् वेत्ति तत्त्वतः," (भगवद्गीता)। सिद्ध पुरुषों में भी यदा-कदा इक्का-दुक्का ही उस तत्त्व को पा सकता है। इसी उपनिषद के चौथे, पांचवें मंत्र "अनेजदेकम्", "तदेजति तन्नैजति", उसी परातत्व के बोधक हैं जो साधारण समझ-बूझ से बाहर हैं। क्या साधारण मानव इस विद्या से वंचित ही रहेगा? नहीं।

ईशावास्योपनिषद के छठे और सातवें मंत्र "यस्तु सर्वाणि भूतानि", एवम् "यस्मिन् सर्वाणिभूतानि", द्वारा मानवमात्र के लिए आत्मदर्शन का सरल

मार्ग दिखा दिया गया है। उस मार्ग पर चलते हुए साधक प्राणिमात्र को अपने भीतर और अपने को सबके भीतर पाता है। वह जो कुछ खाता पीता है, जो कुछ भी करता धरता है, जो सोता जागता है, सब कुछ वह औरों के लिए करता है। वह खाता इसलिए है कि सशक्त होकर औरों की सेवा करे। वह सोता भी है तो जागकर औरों की रक्षा करने के लिए। चलते चलाते एक वह अवस्था आजाती है कि बिना खाये भी चलता रहता है और बिना सोये जागता रहता है। अंततोगत्वा मूर्तिमान मंत्र बन कर "तदेजति तन्नैजति" की स्थिति को पहुंच जाता है। भौतिक रूप की अपेक्षा वह अवस्था एक प्रकार से शक्ति रूप हो सकती है, और कदाचित् उसी शक्ति-समुच्चय को परातत्व परमात्मा कहा जाता है।

पाठक कहेंगे कि यह शुष्क वेदान्त है, मनगढंत है। नहीं जनाव, हरगिज नहीं। साधारण मजदूर किसानों में कभी-कभी ऐसे व्यक्ति देखने में आते हैं जो काम के धुन में इतने तल्लीन होते हैं कि भूख-प्यास भूल जाते हैं। चित्रकार अपनी कला में और माएं अपने बच्चों में अपने को खोये रहती हैं। स्वयं लेखक यहां तक कहने का साहस कर सकता है कि अपने आपको सबके समान अनुभव करने का थोड़ा बहुत अभ्यास करलें और वह कुछ स्वभाव-सा बन जाय तो फन उठाये सांप को डाँक जाइए और वह आपको न डसे, शेर पीठ फेर कर निकल जाय, खूनी आपके लिए खून देने को तैयार हो जाय, खुली तलवारें मयानों में छिप जायें, भाले बरछियों की नोकें नीची हो जायें, बंदूक की गोली ठंडी पड़ जाय, अपमानित करने वाले जलूस बनाकर आपका स्वागत करें, मार डालने के लिए नियुक्त व्वक्ति आवे और माफी मांग कर चला जाये, अपने मन में जो सोचते जायें आगे बैठा व्यक्ति कागज पर लिखता जाये उसी वाक्य क्रम में जिस क्रम में आप सोचे जायें। बीमार की बीमारी दूर हो जाय, अभी-अभी मरने वाला आठ सात साल जी जाय। निर्मल आकाश में घनघोर घटा छा जाय और सूखी धरती को जलमग्न कर जाय और उसी प्रकार मूसलाधार वर्षा रुक जाय और बादल छट जायें। कोई जादू-टोना नहीं, कोई इंद्रजाल आदि नहीं, मेस्मरिजम, हिपनाटिज़्म नहीं, किसी आत्मबल का आलम्ब नहीं, किसी गुरु ने कान नहीं फूंके, किसी महात्मा का बरदान नहीं, भगवद्भजन, पूजा पाठ की महिमा नहीं। यह सब सुनी सुनायी कहानियां नहीं, एक बहत्तर वर्ष के साधारण जनसेवक की आपबीती है। ये सब कैसे हुआ, वह स्वयं नहीं जानता। कब होता है वह यह भी नहीं कह सकता। होता जरूर है और अपने

आप होता है। मगर वह होने करने की डींग कदापि हांक नहीं सकता। लोग कहते हैं कि ऐसी घटनाओं की बात गुप्त रखनी चाहिए, कहने से वह शक्ति नष्ट हो जाती है। हो जाय बला से। इस कथन से लोगों में यदि कुछ आत्मबल जाग्रत हो जाय, हमें बस काफी है।

अंत में विद्या, अविद्या और कुविद्या की संक्षिप्त परिभाषा हो जाय। उपनिषद के अनुसार जीवनयापन की सारी वस्तुएं सामाजिक हैं, व्यक्तिगत नहीं। वस्तुओं के उत्पादन के सारे कार्य सामाजिक हैं। सामाजिक कार्य को ही "कर्म" की संज्ञा दी गयी है। व्यक्तिगत कार्य 'कर्म' की परिभाषा से परे है। लोग भले ही खंडन करें, यही लिखना पड़ेगा कि "नित्यकर्म" जिसे कहा जाता है वह वास्तव में "नैमित्तिक" है और जिसे "नैमित्तिक" कहने की परिपाटी बनी है, वही "नित्यकर्म" है। "कर्म" सामाजिक है और समाज नित्य है, और सामान्यतया शाश्वत है। मानव के लिए आहार, निद्रा आदि यदि नित्य कर्म है तो वह पशु समान हुआ। स्नान, संध्या, पूजा पाठ का निमित्त भी तो कुछ और ही है। कार्यकुशलता के लिए विद्या अनिवार्य है। जहां समाज नहीं वहां विद्या की आवश्यकता नहीं। विद्या का जन्म समाज के साथ हुआ है। विद्या सामाजिक वस्तु है, समाज की देन है, समाज के लिए है। अतः विद्या क्रय-विक्रय की वस्तु नहीं है। यह परिभाषा विद्या तथा अविद्या पर समान रूप से लागू होती है। अविद्या में कर्तृत्व भावना के कारण अहं (मैं) की भावना रहेगी, परन्तु सब के सब यही करते हैं, इसलिए वह अहं (मैं) "हम" याने "हम सबका" रूप लेगा और धीरे-धीरे विद्या के प्रभाव से "आत्मा" "सर्वात्मा" की भावना में परिणत होता जायेगा। इसी वैचारिक परिवर्तन को विद्या कहा गया है। इस प्रकार समाज में मानव के लिए विद्या, और अविद्या दोनों ही अवश्यमेव सेवनीय हैं। कुविद्या के लिए समाज में कोई स्थान ही नहीं है।

१२

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥

शब्द विच्छेद

येऽसंम्भूतिमुपासते=ये+असम्भूतिम्+उपासते

शब्दान्वय

ये असम्भूतिम् उपासते ते अन्धं तमः प्रविशन्ति ।
ये सम्भूत्यां रताः ते ततः उ भूयः इव तमः प्रविशन्ति ॥

शब्दार्थ

ये=जो लोग
असम्भूतिम्=भौतिक सम्पदा को
उपाशते=सेवते हैं ।
ते=वे
अन्धं=आंख मूंद कर
तमः प्रविशन्ति=अन्धकार में फंसते हैं,
(किन्तु)

ये=जो
सम्भूत्यां रताः=देवी देवताओं के भजन पूजन में मग्न रहते हैं
ते=वे
ततः उ=उन से भी
भूय इव=अधिक घोर
तमः=अन्धकार में
प्रविशन्ति=फंस जाया करते हैं ।

भावार्थ

जो लोग भौतिक सम्पदा पर विश्वास रखते हैं वे आँख मूंद कर अंघ कूप में गिर पड़ते हैं: परन्तु जो अप्रत्यक्ष देवी देवता आदि की उपासना करते हैं वे उनसे भी अधिक घोरातिघोर अंधकार में डूबे रहते हैं ।

विशेषार्थ

पिछले तीन मंत्रों में अविद्या की चर्चा करते हुए शरीर यात्रा के लिए उत्पादन के महत्व पर प्रकाश डाला गया था और कहा गया था कि उत्पादन-कार्य में कुशलता प्राप्त करने के लिए अविद्या का सेवन आवश्यकीय है। उत्पादन के लिए सारी सृष्टि सामने पड़ी है। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु से उत्पादन हो सकता है। इसी उपनिषद के प्रथम मंत्र के शब्द "यत्किंच जगत्याम् जगत्" से इस मंतव्य की पुष्टि होती है। प्रस्तुत मंत्र के साथ अगले दोनों मंत्रों में इसी उत्पादन को "असम्भूति" की संज्ञा दी गयी है। सांसारिक विद्या का नाम अविद्या है और सांसारिक सम्पदा का नाम असम्भूति। संसार में रहते हुए अविद्या और असम्भूति की अवहेलना नहीं कर सकते, क्योंकि संसार इन्ही पर निर्भर करता है। इसीलिए अविद्या और असम्भूति को सामाजिक माना गया है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति का इन दोनों पर समान अधिकार है और यह जन्मसिद्ध अधिकार है।

प्रस्तुत मंत्र में कहा गया है कि जो असम्भूति अर्थात् भौतिक सम्पदा की उपासना करता है वह अंधकार में फंसकर रह जाता है। तो क्या उत्पादन पापमूलक है ? नहीं, अभिप्राय यहाँ यह है कि सम्पदा जो सामाजिक वस्तु है, उसे यदि कोई अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझ बैठे तो वह अंधकार के गर्त में गिरेगा और पापमय जीवन व्यतीत करेगा। यह हुई दशा केवल असम्भूति के उपासकों की ।

मंत्र के द्वितीय चरण में कहा गया है कि शुद्ध सम्भूति की उपासना करने वालों की अर्थात् जो जीवनयापन एवम् समाजधारण के हेतु उत्पादन कार्य में हाथ नहीं वटाते और संसार को केवल माया कहकर भगवत् भजन की बातें करते हैं, वे और भी अधिक अंधकार में फसे रहते हैं। संसार के महत्व को न मानकर वे "ईशावास्यम् ईदम् सर्वम्" की अवहेलना करते है। वे भूल जाते हैं कि संसार की सेवा ईश्वर की पूजा है। सृष्टि का तिरस्कार करते हुए सृष्टिकर्ता की अर्चना का ढोंग रचना पाखंड है।

विद्या, अविद्या का विषय विचार-परिष्कार है तो सम्भूति, असम्भूति उस परिष्कृत विचार को साकार करना है। वह ज्ञान है और यह आचरण। आसुरी प्रवृत्ति मानव को विद्या की वास्तविकता एवम् सच्ची सम्पदा से वंचित रखती है। प्रस्तुत मंत्र में इसी आसुरी प्रवृत्ति का फल बताया गया है।

पिछले मंत्रों में बर्णित विद्या, अविद्या के मर्म को भली भांति समझ लेने पर प्रस्तुत मंत्रोक्त सम्भूति, असम्भूति को समझ जाना सरल है। वह कथनी है और यह करनी। कथनी, करनी में तालमेल न रखने वाले न केवल समाज शत्रु हैं वरन् ईश्वरद्रोही भी है। यह मंत्र इसी प्रकार के लोगों की ओर संकेत करता है। एक ओर वे लोग हैं जो दूसरों से मेहनत करवाते और आप मौज उड़ाते है और दूसरी ओर वे है जो झूठ ही भगवान के नाम पर दोनों को बेवकूफ बनाते और अपने आपको धोखा देते हैं।

---

(१३)
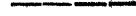
ग्रन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।।

शब्द विच्छेद

ग्रन्यदेवाहुः=ग्रन्यत्+एव+ग्राहुः

सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्=सम्भवात्+ग्रन्यत्+ग्राहुः+ ग्रसम्भवात

नस्तद्=नः+तत्

शदान्वय

ग्रसंभवात् ग्रन्यत् ग्राहुः सम्भवात् ग्रन्यत् एव ग्राहुः ।
इति धीराणाम् शुश्रुम ये तत् नः विचचक्षिरे ।।

शब्दार्थ

सम्भवात्=प्रत्यक्ष की उपासना का फल
ग्रन्यत् ग्राहुः=ग्रलग बताया जाता है,
ग्रसम्भवात् ग्रप्रत्यक्ष का फल
ग्रन्यत् एव=कुछ ग्रोर ही
ग्राहुः=बताया जाता है

इति=इस प्रकार
धीराणाम्=धीर धीमान पुरुषों से
शुश्रुम=सुना है
ये नः=जिन्होंने हमें
तत्=उस तत्व को
विचचक्षिरे=खोल कर समझाया है ।

भावार्थ

प्रत्यक्ष की उपासना का फल ग्रौर होता है ग्रौर ग्रप्रत्यक्ष उपासना का फल कुछ ग्रौर होता है । जिन धीर ग्रनुभवी पुरुषों ने हमें इस विषय को भली भाँति बोध कराया हमने उन महापुरुषों से यही सुना है ।

विशेषार्थ

पीछे बारहवें तथा नवें मंत्रों की शब्दावली में और उसी प्रकार प्रस्तुत तेरहवें मंत्र और पिछले दसवें मंत्र की शब्दावली मे एक ही एक शब्द की बदला-बदली है। उन विद्या, अविद्या की चर्चा है और इस में सम्भूति, असम्भूति की। अगले चौदहवें और पिछले ग्यारहवें मंत्रों में भी इसी प्रकार की एक रूपता-सी दिखाई देगी। शब्दावली की एकरूपता का कारण यह है कि इन छहों मंत्रों में समान विषय पर चर्चा हो रही है। ९ से ११ तक के मंत्रों में विषय के वैचारिक पक्ष का परिचय दिया गया है, जबकि १२, १३, १४ में उसी विषय के व्यवहारिक पक्ष का फल दिखाया गया है। वहां नवें मंत्र में और यहां बारहवें मंत्र में क्रमशः कुविद्या एवम् कुकर्म को वर्जनीय बताया गया है, जबकि वहां दसवें और यहाँ बारहवें मंत्रों में ग्रहणी-यता एवम् आचरणीयता की पुष्टि की गयी है। इससे व्यष्टि तथा समष्टि की जीवनयात्रा निर्वाध रूप से चलती रहती है और भुक्ति से मुक्ति के द्वार खुल जाते हैं।

उपनिषद कर्तव्य-परायणता का पाठ पढ़ाते हैं। भुक्ति का प्रबंध नहीं। तो भूखा क्या काम करेगा और कितने दिन करेगा। सदा भुखमरी का डर उसे मारे डाले रहेगा। इस प्रकार भूखा एक बार नहीं, बार-बार मरता रहेगा और रोज मरता रहेगा।

मगर इसी उपनिषद के दूसरे मंत्र के अनुसार—"जिजीविषेत् शतम् समा:" मानव को पूरे सौ साल क्या उससे वढ़कर जीने का उत्साह रखते हुए काम करते जाना है। खाने पहनने, रहने-सहने, सीखने-सिखाने, काम करने और करवाने की सुविधा के साथ उसे मृत्यु के भय से भी मुक्त हो जाना है। इसीलिए उपनिषद ने मानवमात्र के लिए समान शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था दे रखी है, जिसकी आवश्यकता आज बच्चों की अपेक्षा शिक्षित और अशिक्षित दोनों वर्गों के प्रौढ़ वर्ग के लिए कहीं अधिक है। शिक्षा से जानकारी दीक्षा से कार्यकुशलता प्राप्त होगी। सामूहिक परिश्रम से उत्पादन में वृद्धि होगी और समान वितरण से अभाव हो भी तो वह किसी को नहीं खटकेगा।

प्राचीन भारत में विद्या, अविद्या के प्रचार, प्रसरण का निराला ढंग प्रचलित था। माता-पिता अपने लड़के लड़कियों को घरेलू काम-काज और घरेलू धंधों की शिक्षा दीक्षा स्वयं देते थे और साधु-संत, परिव्राजकगण देश

देशान्तर का परिभ्रमण कर और गाँव-गांव, बस्ती-बस्ती में बसेरा करते हुए पारमार्थिक विद्या का प्रसारण करते थे। इस प्रकार लोग अपने-अपने धंधों में दक्ष हो जाते थे और संत समागम से निस्वार्थ बनते जाते थे।

यह सब कुछ होने पर भी, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, विद्या, अविद्या से एकदम भिन्न है, उसी प्रकार धीरवान व धीमानो ने यह भी स्पष्ट रूप में सिद्ध कर दिया है कि "सम्भूति" अर्थात् पारमार्थिक सम्पदा "असम्भूति" अर्थात् भौतिक अथवा साँसारिक सम्पत्ति से एकदम भिन्न है। कैसे ? अगले मंत्र पर चलिए।

---

(१४)

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ।।

शब्दविच्छेद

यस्तद्=यः+तत्
वेदोभयं=वेद+उभयं
सम्भूत्याऽमृतमश्नुते=सम्भूत्या+अमृतम्+अश्नुते ।

शब्दान्वय

यः सम्भूतिं च विनाशं च तत् उभयं सह वेद ।
(सः) विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यात् अमृतम् अश्नुते ।।

शब्दार्थ

यः=जो मनुष्य
सम्भूतिं=अविनाशी,
विनाशं च=और नाशवान में से
तत् उभयं=उन दोनों को
सह वेद=साथ साथ जान लेता है.
सः=वह
विनाशेन=नाशवान से
मृत्युं तीर्त्वा=मृत्यु को पारकर
सम्भूत्या=अविनाशी की उपासना से
अमृतम् अश्नुते=अमृतत्व को प्राप्त होता हैं।

भावार्थ

जो मनुष्य नित्य तथा अनित्य दोनों को एक साथ पूर्णतया जान लेता है वह अनित्य संसार में मृत्यु को पार कर नित्य परमात्मा में लीन होकर अमरत्व को प्राप्त होता है ।

विशेषार्थ

पिछले पांचों मंत्रों में और प्रस्तुत मंत्र में भी एक ही विषय की दो भिन्न पहलुओं से चर्चा हो रही है। विषय के दोनों पहलुओं को समझ लेने के बाद इस अंतिम मंत्र में केवल एक शब्द "विनाश" पर ध्यान देने से विषय को हृदयंगम कर लेने में अधिक सुविधा होगी। पिछले पांचो मंत्रों में से प्रथम तीन अर्थात् ९, १०, ११ में विद्या की चर्चा करते हुए सभी स्थानों पर शब्द विद्या, 'अविद्या' समान रूप से प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु मंत्र १२, १३, १४ में "सम्भूति", "असम्भूति" की चर्चा करते हुए अंतिम मंत्र १४ में शब्द "असम्भूति" के स्थान पर शब्द "विनाश" का प्रयोग हुआ है। उपनिषत्कार की दृष्टि में कारण कुछ भी रहा हो, इस शब्द के प्रयोग से साधारण व्यक्ति को भी विषय का अच्छा-खासा बोध हो जाता है। इससे हम और हमारे इस संसार का असली रूप सामने आजाता है कि ये सब नाशवान हैं।

हम आज हैं, कल नहीं रहेंगे। हम जो इतना खाते-पीते हैं, कुछ ही घंटों बाद खाली पेट रह जाते हैं। इस चराचर जगत मे सबका यही हाल है। ',अचल" कहाने वाले पर्वतराज भी विचलित हो जाते हैं। हम जिस धरती पर रहते हैं एक समय था कि उसका अस्तित्व ही नहीं था। जिस आकाश की छत्रछाया हमारे सिरों पर सदा बनी-सी रहती है, वह तो वास्तव में है ही नही। आचंद्रार्क कह कर जिन सूर्य चन्द्रमाओं को शाश्वत मानते हैं उनका भी एक दिन अत निश्चित है। तब हम मानव अपनी कुशल बुद्धि और कठिन परिश्रम से जिन वस्तुओं को पैदा करते कराते हैं उनकी क्या गिनती? जब हम कमाने वाले ही नहीं रहेंगे तब हमारी बनाई हुई चीजों का क्या ठिकाना? उन धीर धीमान उपनिषत्कारों ने इसी एक बात को मानव के मन में गहरे बिठाने की चेष्टा की है।

बस, जो बनाओ उसे दोनों हाथों से सब में बाँट दो। जो मिले उसका सब समान रूप में उपयोग करो। चीज को रखो ही नहीं तो मोह किससे होगा? मोह मिटे तो मद, मत्सर पास न फटके। जो मद, मत्सर न हो तो किसी से द्वेष दुश्मनी क्यों हो? इस नश्वर संसार में कुछ दिन गुजारने के लिए आये, सो खुश-खुश गुजार चले।

यह शरीर हमारी सवारी है। हमें संसार में आना था तो शरीर रूपी सवारी को संवारा। जब तक रखा दाना-पानी दिया और खूब सवारी की।

असली घर छोड़े अधिक दिन हो चले थे। सो, जहां से चले थे वहीं लौट चलने को आतुर हो उठे। किसी को खातिर में नहीं लाये। अकेले आये थे, अकेले चल दिये। संसार हमारा लीला-स्थल है। लीला ही सही, पर उस लीला को भी खूब निभाया। कुछ दिन किसी धर्मशाला में टिके रहे। जिन-जिन से भेंट मुलाकात हुई मेल-जोल बढ़ाया। विमुक्त बिहंगम की भांति उड़ानें भरीं। सांझ हुई तो घोंसले की सूझी। आत्मा की पंछी परमात्मा की गोदी जा बैठी। उपनिषद के अर्थ ही तो हैं—पास बैठना। परमधाम में आनंद ही आनंद है, परमानंद।

परमात्मा का परमधाम ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है तो संसार के जंजाल में फंसे क्यों? "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकम् शरणम् ब्रज," भगवदगीता के इस आदेश के अनुसार सभी प्रकार के धर्म-कर्म से छुटकारा क्यों न पालें? गीता में बहुत सी बातें कही गयी है। किस सदर्भ मे कौन बात कहीं गयी है, इस पर निर्णय लेना भी कठिन है। परन्तु उपनिषद के उपदेश स्पष्ट है, समझने में सरल और चलने में सुगम। सीधे ईश्वर के बगल में जा बिठा देता है ईशावास्योपनिषद्। परन्तु इसमे भी शब्द उभयं सह" मन में दुविधा पैदा कर देते हैं—यह करो पर वह भी करो, खूब खाओ पर सब को बांटकर, काम करो, पर कमाई न करो। विद्या की उपासना करो, पर अविद्या का साथ न छोड़ो, सम्भूति और असम्भूति दोनों को साधा करो। दुविधा जरूर है, परन्तु यह दुविधा मानव के साथ लगी हुई है और उस दुविधा को सुविधा में बदल लेना मानव के बस की बात है। पीछे कहा जा चुका है कि मानव के दो रूप हैं—एक विचार, दूसरा व्यवहार। विचार का नाता ईश्वर से है, व्यवहार का सम्बंध संसार से है। ज्यों ही विचार और व्यवहार में एकरूपमा आजाती है, दुविधा की यह दीवार टूट जाती है, सुविधा का प्रशस्त मार्ग खुल जाता है और संसार ईश्वरमय-सा दीखने लगता है—"ईशावास्यमिदम् सर्वम्"।

हम क्या हैं? हम सब जानते हैं कि यह शरीर हमारा है। कोई नही मानता कि हम शरीर के हैं। जाहर हैं—शरीर और है और हम और हैं। तब, यह शरीर न होता तो हम क्या होते? वही होते जो प्रगट नहीं है अर्थात् ईश्वर। सभी शरीधारियों में ईश्वर छिपा हुआ है। ज्यों ही ईश्वर शरीर से निकल जायेगा शरीर बेकार हो जायेगा। माता पिता, पति पत्नी में इतनी जो ममता होती है, क्या शरीर से होती है वह ममता? कदापि नहीं। मरे बच्चे को छाती से चिपकाये कोई माता पिता नहीं घूमा करते। पति-पत्नी अपने

जीवन संगी की लाश से चिपटे पड़े नही रहते । वास्तव में वे शरीर से नहीं, वरन् उस शरीर के भीतर जो ईवर छिपा हुआ था उसीसे प्रेम करते थे। ज्योंही शरीर से ईश्वर रफूचक्कर हो गया त्यों ही हमने उस शरीर को परित्यक्ता माना—फूंक दिया, गाड़ दिया, पानी में बहा दिया। सभी प्राणियों में प्राण ही ईश्वर है। सबको सबके साथ धुल-मिलकर रहना सहना चाहिए।

मगर संसार में ऐसा नहीं होता। इसका मुख्य कारण है विद्या का परित्याग, अविद्या का भी अभाव और कुविद्या का प्रसार। इस कुविद्या के कारण मानव स्वयं अपने को ईश्वर मानने लगता है, समझता है में विद्वान हूँ बलवान हूं, धनवान हूं, सारी सत्ता मुझ में केन्द्रित है। जब ईश्वर ही को नहीं मानेगा, तब वह मानव को ईश्वर के समान कहां मानने चला। "ईशावास्यमिदम् सर्वम्" उसकी दृष्टि में पाखण्ड है, "तेन त्यक्तेन भुंजीथाः," को ढकोसला मानकर औरों के हक पर हाथ मारेगा। "मा गृधः," उसके नजदीक बकवास है और उसका लालच दिन पर दिन बढ़ता ही जायेगा, धन-मान का लालच, सत्ता-अधिकार का लालच। लालच आदमी को अंधा बना देता है। सचाई पर परदा पड़ जाता है। अगले मंत्र में इसी परदे को हटाने की बात कही गयी है।

———

(१५)

हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।

शब्द विच्छेद

सत्यस्यापिहितं=सत्यस्य+अपिहितम्
तत्वं=तत्+त्वं
पूषन्नपावृणु=पूषन्+अपावृणु

शब्दान्वय

सत्यस्य मुखम् हिरणमयेन पात्रेण अपिहितम् ।
पूषन् सत्य धर्माय दृष्टये तत् त्वं अपावृणु ।।

शब्दार्थ

सत्यस्य मुखम्=सत्य का मुख (सत्य)
हिरणमयेन पात्रेण=स्वर्ण पात्र से
अपिहितम्=ढका रखा है,
पूषन्=हे (इस लिए) पोपपकर्ता
सत्य धर्माय=सत्य धर्म, यथार्थ, को
दृष्टये=देख पाने के लिए
त्वं=तु
तत्=उस सोने के परदे को
अपावृणु=हटा दे ।

भावार्थ

इस संसार में सत्य को सोने की चादर से ढक दिया जाता है। इस लिए हे पालनहार, तू पहले उस परदे को हटा दे कि सत्य उजागर हो जाय।

विशेषार्थ

अविद्या अर्थात् व्यवहारिक कुशलता से शारीरिक सुख की प्राप्ति होती है और विद्या अर्थात् वैचारिक शुद्धता से मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। परन्तु संसार में लोग प्रायः दु:खी रहते है। कारण इसका यह है कि कुछ साधन-सम्पन्न व्यक्ति उपनिषदों के इन मूल सिद्धान्तों से पराम्मुख होकर स्वार्थवश सर्वात्मा परमात्मा से मुकर जाते हैं। जितना बड़ा या छोटा उनका संसार हो, जहांतक उनका बस चले वे अपना आधिपत्य स्थापित करते है। लोभ अथवा भयवश थोड़े वहुत उनके साथी सहकारी भी हो जाते हैं। पराये बल, परायी बुद्धि, पराये पराक्रम के बलबूते आप बनते और औरों को बिगाड़ते हैं, छल-बल से समाज को कुचलते हैं और सत्य का गला घोटते हैं। सचाई सामने आ नहीं पाती। असत्य का बोलबाला हो जाता है। इसी प्रकिया को मंत्र में, "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य मुखम् अपहितम्" कहा गया हैं। हिरण्य अर्थात् स्वर्ण-सोना, माल दौलत, सत्ता अधिकार इस सत्यापहरण के कारण हैं। आजकल की भाषा में "हिरण्मयेन पात्रेण" के माने हैं, चांदी का जूता। सचाई को दबोच डालने में जूता और पैसा साथ-साथ चलते है। पैसे के लालच और जूते के भय से लोग 'सत्य' को अनदेखी कर देते हैं।

परन्तु सत्य सत्य है। वह एकदम लुप्त नहीं हो सकता। जैसे उसे दबाया जा सकता है वैसे उसे उभारा भी जा सकता है। प्रस्तुत मंत्र के प्रथम चरण में शब्द "हिरण्य" है तो दूसरे ही चरण में "पूषण" शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसके अर्थ हैं पोषण करने वाला। मानव का पोषण उत्पादन से होता है। इस प्रकार उत्पादक वर्ग को "पूषन्" की संज्ञा दी जा सकती है और उत्पादक वर्ग में बुद्धिजीवी और कष्टजीवी दोनों शामिल हैं।

यदि मंत्र के प्रथम चरण में समाज के रोग का निदान है तो दूसरे चदण में रोगनिवारण का उपाया सुझाया गया है। ईशवास्य के प्रथम मंत्र का आदेश है—"तेन त्यक्तेन भुंजीथाः"। किन्तु इस 'विधि' के विपरीत व्यक्ति औरों का हक मारकर आप बड़े बन जाते हैं और माल-मता जोड़ते जाते हैं। पेट भर खाने का सबको हक है, परन्तु फालतू भरने का अधिकार किसी को नहीं है। तिस पर तुर्रा यह कि भरनेवाला करनेवाले को अपमानित करता है, कुचलता है, भूखे मारता है। खून पसीना एक करके लोग सोना उगायें और निकम्मे सोनापति बन कर 'हिरण्मय' कहावें, यह कौन सा न्याय

है। हे पूषन् ! हे विद्या के धनी बुद्धिजीवियो, हे अविद्या के मालिक कष्ट-जीवियों, चेतो, और समय रहते समाज के रोग को दूर कर दो। इस हिरण्मय पात्र का पर्दाफाश कर दो। सचाई को सामने लाओ। समाज को इस सोन-धुन से बचाओ। यही है इस मंत्र का सीधा-सादा अर्थ।

परन्तु प्राचीन और अर्वाचीन भाष्यकारों ने भी, 'पूषन्' को भगवान मान कर परदाफाश करने का कार्य परमात्मा को सौंप दिया है। आरम्भ में ही कह दिया गया है कि उपनिषदों का अवतरण मानव के लिए हुआ है। पिछले मंत्रों में मानव की गरिमा गायी गयी है। प्रस्तुत मंत्र में आकर उस गरिमा को गिराना उचित नहीं। धरती के नर-नारी को नैराश्य की मूर्ति बनाकर आकाश के आदित्य को निहारने की सीख यहां जचती ही नहीं। 'इदम् सर्वम्' का वह ईश्वर अब भी धरती पर चल-फिर रहा है। इधर के ईश्वर की ओर से आंख मूंद कर उधर के आदित्य को निहारेंगे तो आंखें चौंधियायेंगी ही। यहां के भगवान को जो धिक्कारोगे तो वहा के भगवान तुम्हें निश्चित ही दुत्कारेंगे। यहां चुप्पी साधकर खोया तो वहां चीत्कार करके नहीं पाओगे। अपनी हीन भावना की चदरिया से सूर्यनारायण के तेजस्वी किरणों को ढकने की चेष्टा न करो। बल्कि कहो कि मार्तंड के किरण और भी प्रचंड बनें जिससे धरती की अंधेरी परतों के भीतर छिपा सोना बाहर पड़े। भाष्यकारों के कोरे भाषणों की परवाह न कर पुरुषार्थी बनो। स्वयं परमात्मा को पुरुष कहा गया है। सो परमात्मा पुरुषार्थ का समर्थक है। पुरुषार्थी मोह मद के चक्कर में नहीं पड़ेगा। मोहजाल को टूक-टूक कर फेंक देगा।

हे मानव, तू इस हिरण्मय पात्र का परदाफाश कर डाल, और सत्य की स्थापना करदे, यही उपनिषद की ललकार है, यही जन जन की वाणी है और जनवाणी है स्वयं ईश्वर का आदेश।

———

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य

व्यूह रश्मीन समूह ।

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥

शब्द विच्छेद

पूषन्नेकर्षे=पूषन्+एक+ऋषे
यत्ते=यत्+ते
तत्ते=तत्+ते
योऽसावसौ=यः+असौ+असौ
सोऽहमस्मि=सः+अहम्+अस्मि

शब्दान्वय

पूषन् एक ऋषे यम सूर्य प्राजापत्य रश्मीन व्यूह समूह
यत् ते तेजो कल्याणतमं रूपम् तत् ते पश्यामि
यः असौ असौ पुरुषः सः अहम् अस्मि ॥

शब्दार्थ

पूषन्=हे पालनहार,
यम सूर्य, प्राजापत्य=यमराज,
रश्मीन व्यह=किरण चक्र को
यत् ते=जिससे तेरा
तत् ते तेजः=वह जो तेरा तेज है उसे
पश्यामि=देख रहा हूँ
यः असौ=जो यह
असौ पुरुषः=परम पुरुष है
सः अहम् अस्मि=मैं भी हूँ।
एक ऋषे=हे मूल पुरुष
सूर्य भगवान तथा प्रजापति ब्रह्मा के
समूह=एकत्र करले, समेट लो,
कल्याणतमं रूपं=आनंदमयी रूप का

भावार्थ

हे सिरजनहार, हे पालनहार, हे राखनहार, हे करतार, तू अपनी सारी शक्तियों को बटोर कर सामने खड़ा है। तेरे इस कल्याणकारी स्वरूप को साक्षात् कर अपने को धन्य हुआ जान रहा हूं और मान रहा हूं कि वह जो सर्वात्मा परमात्मा है वह यही है और मैं भी वही हूं।

विशेषार्थ

पिछले मंत्र के समान इस मंत्र को भी 'पूषन्' अर्थात् उत्पादक वर्ग को उद्देश्य करके कहा गया है। "पूषन्" को यहां प्रजापति सृष्टिकर्ता "ब्रह्मा" पालनहार "सूर्य" एवम् संहारकर्ता "यम" की संज्ञाओं से याद किया गया है। उत्पादक वर्ग की शक्ति अपार है। वह पैदा करता है बढ़ाता है, मिटा भी सकता है। एकर्षि होकर सबकी भलाई बुराई को खूब देख पाता है। जो देखेगा वह पकड़ेगा और जो पकड़ेगा वह करेगा भी। क्या करेगा ? हिरण्मय पात्र का परदाफाश करेगा और सत्य की स्थापना करेगा। पिछले मंत्र मे यही तो करने को कहा गया है। सो कैसे करता है, उसे इस मंत्र में बताया गया है।

हे बुद्धिजीवियो, हे कष्टजीवियो, एकर्षि बन कर अपना एक ही एक लक्ष्य बना लो, वही एक लक्ष्य जन-जन का हो। सूर्य बनकर अपनी प्रचण्ड किरणों से जन-जन को प्रज्वलित करो, चहूँ दिशाओं में प्रकाश फैलाओ, कोने-कोने में उन ओजस्वी किरणों से व्यूह रचना करो। देखे तो जन-समूह ने एक महान तेजोमय कल्याणकारी रूप धारण किया हुआ है। जन-जन यही अनुभव कर रहा है कि यह सारी शक्ति स्वयं उसमे से उमड़ रही है, तन-तन में एक ही खून खौल रहा है, मन-मन में एक ही धुन झनझना रही है। यहां विद्या, अविद्या का अन्तर मिट गया है। सम्भूति, असम्भूति एकरूपता को प्राप्त हो गये हैं। यह एक ऐसा अनुभव है जिसे वे सभी अनुभव करते हैं जो किसी उद्देश्य को लेकर आगे बढ़ते हैं। रणांगन में प्रत्येक सैनिक का, भजन-मंडली में प्रत्येक भजनीक का, कहां तक गिनाबें, प्रत्येक आंदोलन में प्रत्येक आंदोलनकारी का यही अनुभव होता है। सौ की एक बात सर्वात्मा का यह जन-समूह एकात्मा में परिवर्णित हो जाता है। नया मानव, और नया समाज। नये मानव से नये समाज का प्रादुर्भाव।

यों मानव जाति की समष्टि जीवनधारा सदा प्रवाहित रहेगी, यद्यपि व्यष्टिरूपेण एक-एक जन्म लेता और मरता रहेगा। उपनिषद का नारा है— "कुर्वन्नेवेह कर्माणि", काम किये जाओ। समाज के लिए किये जाओ। व्यष्टिरूपेण करो और मरते दम तक करो, और समष्टि रूपेण करो और जिया करो। व्यक्ति रहे या न रहे, समाज सदा रहेगा। कर्म समाज के लिए है, इसलिए कर्म भी समाज के साथ स्थायी बना रहेगा। नाम तो किसी किसी का ही रहता है पर काम सबका रहेगा ही, बेनाम होकर भी ।

---

(१७)

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तम् शरीरम् ।
ओं क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥

शब्द विच्छेद

वायुरनिलममृतमथेदम्=वायुः+अनिलम्+अमृतम्+अथ+इदम्

शब्दान्वय

अथ इदम् शरीरम् भस्मान्तम् वायु: अनिलम् अमृतम्
ओं क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥

शब्दार्थ

अथ=अब
इदम् शरीरम्=यह शरीर
भस्मान्तम्=भस्म हो जाय,
और
वायु:=प्राण अर्थात् प्राण वायु
अमृतम् अनिलम्=शाश्वत वायु-तत्व मे मिल जायगा

(मेरे)
क्रतो स्मर=संकल्प अथवा उद्देश्य पर ध्यान दो
कृतम् स्मर=किये हुए काम का ख्याल रखो

भावार्थ

प्राण निकलेगा। वायुमंडल में लीन होकर अमर हो जायेगा। और यह शरीर भस्म होकर मिट्टी में मिल जायेगा। जीवन भर जो कुछ किया उस का ध्यान रखो और यह भी सोचो कि उन कर्मों के पीछे कौन भावना काम कर रही थी।

विशेषार्थ

मानव-जीवन एक महान यज्ञ है। व्यक्ति स्वार्थ रहित होकर जीवन यज्ञ में सर्वस्व स्वाहा करता है। व्यक्ति का यज्ञमय जीवन समाप्त हो जाता है, पर यज्ञरूपी सामाजिक जीवन सदा चलता है। व्यक्ति अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हुए सर्वात्मा-समाज से बिदाई लेता है। कहता है—"लो, मैं चला। मैं कौन? यह शरीर नहीं। शरीर समाज का था। सो उसे मैं समाज को सौंप दिया। जैसे संस्कारों को लेकर आया था वैसा शरीर पाया। अब सर्वरहित होकर स्वधाम की राह ले रहा हूं। मैं अदृश्य वायु था और अखण्ड ब्रह्माण्ड में अविरल विचर रहा था। समाज के इस पिण्ड शरीर में प्राणवायु बन कर प्रवेश किया। जिस दम इस पिण्ड में प्रवेश किया उसी दम से इससे पिण्ड छुड़ाने के लिए आतुर रहा। एक सांस से बाहर निकला ही चाहता था कि दूसरी ही सांस फिर से मुझे भीतर ले जाती रही। सांस की इस आवक-जावक ने मानो श्वास रोग का ही रूप धारण किया। कातर होकर रोया तो माता ने स्तनपान से शान्त किया। खिला-पिलाकर मोटा करना चाहा, पर परमधाम की चिन्ता में सूखता ही गया। विद्या अविद्या की सुविधा नही। कुविद्या से रुचि नहीं। कुविद्या जिसे रुचे नहीं वह कुबेर महाराज का कोप भाजन होगा ही।

दिन भर धूप चमके तो रात भर चांदनी क्यों न छिटके? अंग्रेजी साम्राज्य में सूरज नहीं डूबता, शायद उसी से चांदनी चिटक जाती। विदेशी सरकार को दूर भगा दिया गया तो स्वदेशी सरकार में दिन में भी अंधेरा छा गया,। अंधों को क्या खाक सूझे। वे तो सेवक को सांप जानते और साम्पों को गले का हार बनाते। आत्मवान ने अंधकार को दुराने के लिए विद्या की दिया जलाया तो कुविद्या की आंधी है कि थमने का नाम नहीं लेती। देश भक्तों ने माता-पिता की सेवा नहीं की, मातृभूमि का व्रत लिया। भाई, बहिन की सहायता नहीं की, समाज की बिरादरी में शामिल हो गये। श्रेय की परवाह नहीं की। प्रेय की उन्हें चाह नहीं। हरिश्चन्द्र का नाटक देखा तो झूठ बोलना जाना नहीं। ध्रुव प्रहलाद की कहानी सुनी तो सत्याग्रह की आदत पड़ गयी, जिसे दुश्मनों ने दुराग्रह भी समझा। अपढ़ सस्याग्रही कम से कक कुपढ़ तो नहीं बने अथवा उपनिषदों का पठन-पाठन से सबको ईश्वर तो नहीं जाना, फिर भी उन्होंने सबसे प्रेम जरूर किया। पेड़, पहाड़, पशु-पक्षी, सभी प्रदेशों और धर्मों को अपना समझा। पतितों को भी पावन माना। पापी में भी पुण्यकिरण देखे। पीड़ितों से प्रभावित हुए और कमजोरों का साथ दिया ऽ।

बलवान का सामना किया और स्वार्थी से दूर रहे। नवजवानों के जोश पर खुश हुए। वयोवृद्धों के स्वानुभव को भुलाने पर तर्स खाया। सहारे का तकिया नहीं। सिर छिपाने को छप्पर नहीं। कब तक क्या क्या करते। विचारे जर्जर शरीर में कहां पंक्चर जोड़ते रहें। कह दिया—ले लो अपना यह शरीर। गाड़ दो, बहा दो या कौओं गीधों को खिला दो। दाह संस्कार की क्या जरूरत ? हमने पहले ही इस शरीर को तिल-तिल की आहुति चढ़ाकर भस्मीभूत कर रखा है—"भस्मान्तम् शरीरम्।" यमराज को जिन्होंने बार-बार ललकारा हो वे सुर-राज की दरबारदारी क्यों करने चले ? जिस स्वर्गाधिपति को सदा डर लगा रहता हो कि कहीं सत्ता छिन न जाय वह किसी को क्या देगा ? राक्षसों को बुरे काम करने वालों से जितना हर्ष होता है देवों को उससे कही अधिक ईर्षा भला कार्य करने वालों से होती है।"

वे और कहते हैं—"हे समाज, यह शरीर तुम्हारी देन थी। इसीलिए हमने तुमसे दाम नहीं माँगा। नाम भी नहीं चाहा। रहा काम और उसके पीछे हमारी भावना। इसे तुम भुला न सकोगे। जो भुलाओगे तो पछताओगे। याद रखो, खूब याद रखो—क्रतो स्मर कृतं स्मर, क्रतो स्मर कृतम् स्मर !!" हम तुम्हारे बीच आये थे दृढ़ संकल्प के साथ कि जो कुछ करेंगे समाज के लिए करेंगे। खायेंगे पियेगे सोयेंगे भी तो समाज सेवा के योग्य बने रहने के लिए और अगर मरेंगे तो वह भी समाज के लिए। परख कर देखो कि कठोर से कठोर परीक्षाओं में भी और विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में भी अपने संकल्प पर स्थिर रहे और राह से बेराह नहीं हुए। यह हुई "क्रतुः" अर्थात् संकल्प की बात। अब 'कृतम्" का भी लेखा-जोखा ले लो। देखो कि जो-जो कार्य किये उनमें कोई समाज-विरोधी कार्य तो नहीं किये। समाज के हित में जो किया उसे कहां तक पूरा किया। न कर सके तो उसमें हमारी जिम्मेदारी कहां तक है। आलस के मारे कार्य में कहीं ढिलाई तो नहीं दिखायी। लोभ अथवा भयवश कभी कंधा तो नहीं डाल दिया, या समाज के नाम पर अपना उल्लू तो सीधा नहीं किया।"

ठीक है, कर्म ही प्रधान है, परन्तु मंत्र में एक ही बात को दोहराकर क्यों कहा गया है—"क्रतो स्मर कृतं स्मर, क्रतो स्मर कृतं स्मर ?" इसके दो कारण हैं। विद्या कर्मचक्र की धुरी है और कर्म का परिणाम है" सम्भूति, अमरत्व, जिसका सम्बन्ध आत्मा से है। दूसरी ओर कर्म का सम्बन्ध शरीर से भी है, जिसका आधार "अविद्या" है और फल उसका असम्भूति, नश्वर है। मानव के दोनों रूप हैं। उसे दोनों ही साथ-साथ साधने हैं। इसीलिए मंत्र में

इन शब्दों का दोहरा प्रयोग—"उभयम् सह"।

मृत्युलोक और स्वर्ग लोक दोनों को आलोक प्रदान करदेवाले उपनिषद जहां पर उपलब्ध हों उस भारतवर्ष में यह त्राहि-त्राहि क्यों ? भारत में ही क्या, संहार भर में यही हाहाकार है। संसार दो भागों में बटा है। एक ओर अनुन्नत राष्ट्र हैं और दूसरी ओर हैं समुन्नत राष्ट्र। फिर समुन्नत राष्ट्र भी दो प्रकार के हैं। एक ओर पूंजीवादी राष्ट्र हैं, और दूसरी ओर वे हैं जिन्हें समाजवादी कहा जाता है। समाजवादी हो अथवा पूंजीवादी, समुन्नत राष्ट्रों को तो सुख की नींद सोना चाहिए था। परन्तु ऐसा नहीं है, क्यों ? कारण वही हैं जो ऊपर बताये गये हैं। दोनों ने ही, विद्या अविद्या और सम्भूति असम्भूति, दोनों को साथ-साथ साधने की चेष्टा नहीं की है। उप-रोक्त दोनों व्यवस्थाओं ने वास्तविक विद्या और शाश्वत सम्भूति से मुंह मोड़ रखे हैं। दोनों की सम्पदा अविद्या मूलक है। पूंजीवादी व्यवस्था असम्भूति का आशिक है और समाजवादी व्यवस्था अविद्या का शैदाई। इसकी जड़ में कीडा बैठा है और उसके फल में सडन आ गई है। और नव जाग्रत भारत है कि अपनी मूल प्रकृति को भुलाकर "उभयं सह" का नाम जपते हुए कहीं "उभय भ्रष्ट" न हो जाय।

———

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥

शब्दार्थ

अग्ने=हे अग्नि देव
अस्मान्=हमें
सुपथा नयः=उत्तम मार्ग ले चल,
राये=उद्धार के लिए
देव=हे देव, (आप हमारे)
विश्वानि=समस्त
वयुनानि=कर्मों के
विद्वान्=जानकार है
अस्मत्=हमारे (रास्ते के)
जुहुराणम्=बांधक
एनः=पापों को
युयोधि=दूर कर
ते=तुझे
भूयिष्ठाम्=बारम्बार
नम उक्तिम्=नम्रता बचन, चिरौरी
विधेम=करते हैं, प्रार्थना करते हैं ।

भावार्थ

हे भगवान् हमें अच्छे मार्ग से ले चल । तू हमारी सभी त्रुटियों को जानता है, हमारे उद्धार के रास्ते में जो रोड़े खड़े हों उन्हें तू हटा दे । प्रणाम पूर्वक बारम्बार हमारी यही याचना है ।

विशेषार्थ

"ईशावास्योपनिषद्" का यह अंतिम मंत्र है । जन्म से मृत्यु तक जीवनचर्या की समाप्ति के साथ शरीर का कार्य भी समाप्त हो गया । जीवन में शरीर को गति प्राप्त थी अग्नि के कारण । अग्नि ही जीवन है । अग्नि के कारण शरीर गतिमान था । अतः गतिविहीन शरीर की अग्नि द्वारा ही अंत्येष्टि । व्यष्टि रूपेण शरीर नहीं रहा, परन्तु समष्टि रूपेण समाजरूपी शरीरी सदा चलता रहेगा । इसीलिए मंत्र में समाज को चलाये जाने की यह अंतिम प्रार्थना है । प्रार्थना भी समाज के लिए है व्यवित के लिए नहीं । मरने वाले को अपनी नहीं, वरन् समाज की फिक्र सता रही है । मंत्र में बहुवचन शब्द अस्मान् (हमें) प्रयुक्त हुआ है, "माम्" (मुझे) नहीं ।

जब निष्कर्ष यह निकला कि यह प्रार्थना समाज के लिए है तब हम यह मानने के लिए बाध्य हैं कि मंत्र के सभी शब्द समाज को लक्ष्य करके कहे गये हैं । मरनेवाले व्यक्ति को इन शब्दों में लपेट लाना ठीक नहीं । प्राण निकल गया और वायु में मिल गया । शरीर भस्म हो गया और मिट्टी में मिल गया । कर्म यहां रह गये पर विचार साथ उड़ गये । विचार की उड़ान में अड़चन का क्या डर है कि उन्हें हटाने के लिए उस मरने वाले को प्रार्थना करनी पड़े । वह

तो कर्म का फल मांगेगा। मानना ही पड़ेगा कि यह उपनिषद् की प्रार्थना समाज कीहै, समाज के लिए की गयी है और स्वयं समाज की ओर से की गयी है।

सामान्यतः यह होता भी है कि दिवंगत की अन्त्येष्टि के लिए बंधु मित्र श्मशान घाट तक साथ चलते हैं। कंधा देते हैं। शव को चिता पर रख देते हैं। धू-धू चिता जलती है। एकत्रित मित्र सोचते हैं—हमें भी एक दिन इसी तरह जाना है। सम्पत्ति भोगविलास की बातें भूल जाते हैं। भगवान याद आता है। आकाश की ओर निहारते हैं दोनों हाथ जोड़ते हैं। बरबस कह जाते हैं—हे भगवान्, जो गया वह पुण्यात्मा था। हम लोग महान पापी है। हमने जाने वाले की अनुसनी करदी। हे भगवान, हमारे कौन कुचक्र और कुकर्म आपसे छिपे हैं—"अस्मान विश्वानि वयुनानि विद्वान्—" हे भगवान हम लाचार हैं, बेबस हैं। तेरी ही शरण जाते है। हमें इन पापों से बचा ले। तुझे बारम्बार हमारा प्रणाम इत्यादि-इत्यादि।

यह प्रार्थना उस जाने वाले की है, यौं पान भी लिया जाय तो उप-रोक्त अभिप्राय में अंतर नहीं पड़ेगा। व्यक्ति कितना ही सात्विक क्यों न हो, प्रायः समाज उसके साथ वह व्यवहार नहीं करता जिसका वह वास्तव में अधि-कारी है। उस पर तरह-तरह के लांछन लगाये जाते हैं। आत्मवान व्यक्ति समाज की इस कमजोरी को खूब जानता है। फिर भी वह अपने को समाज से अलग नहीं गिनता। समझता है कि स्वयं भी उसी समाज का एक सदस्य है। वह अपने को समाज़ की त्रुटियों से मुक्त नहीं मानता।" मैं कुटिल खलु कामी, इन शब्दों को क्या सूरदास की विडम्बना कहेंगे ? पापमूलक शरीर के साथ क्षणभर के लिए ही क्यों न हो दुर्विचार मन में आ ही सकते हैं। साधक की गति साधक ही जाने कि उसे कितने भयंकर अंतर-संघर्ष से मोर्चा लेना पड़ता है। सत्याचरण की तलवार को धार पर चलने की उपमा योंही नहीं दी गयी है। अतः समाज के लिए प्रार्थना करते हुए अपने को उसी समाज के अंग के रूप में देखते हुए, एक वचन द्विवचन की अपेक्षा बहुवचन का प्रयोग उपयुक्त ही है। और तो और गायत्री महामंत्र तो व्यक्तिगत साधन के लिए है। परन्तु उस व्यक्तिगत साधना में भी आग्रह पूर्वक कहा गया है—'धियोयोनः" मेरे नहीं वरन् हमारे विचारों को परिष्कृत कर दे।

पूर्णमदः पूर्णमिदम् पूर्णात् पूर्णदमुच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ओं शान्तिः, शान्तिः, शान्तिदेव शान्तिः ॥